9

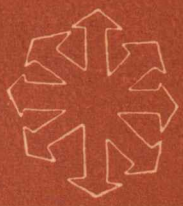

डायोजिनीज़

समाज दर्शन
एवं
मानववादी अध्ययन
की
अंतर्राष्ट्रीय पत्रिका
से
चुने हुए
अनुवाद

डायोजिनीज़

दर्शन तथा मानविकीय अध्ययनों की अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् की त्रैमासिक पत्रिका से प्रस्तुत चयनिका
(यूनेस्को की सहायता से प्रकाशित)

प्रधान सम्पादक :
दयाकृष्ण
पूर्व-प्रोफेसर, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
सम्पादक मण्डल :
आर. सी. द्विवेदी
प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
वी. आर. मेहता
प्रोफेसर, राजनीतिशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
एन. के. सिंघी
प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
मुकुन्द लाठ
असिस्टेन्ट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
यशदेव शल्य
पूर्व-फैलो, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली
प्रबन्ध सम्पादक :
के. एल. शर्मा
एसोसियेट प्रोफसर, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

मूल पत्रिका का सम्पादन मण्डल

JEAN d' ORMESSON	
Chief Editor, Diogenes	(del' ACADE'MIE FRANCAISE)
M.V. ALPATOV	(USSR)
C. CHAGAS	(BRAZIL)
E. CONDURACHI	(RUMANIA)
B. DADIE	(IVORY COAST)
F. GABRIELI	(ITALY)
T. KUWABARA	(JAPAN)
A. LAROUI	(MOROCCO)
J. STAROBINSKI	(SWITZERLAND)

डायोजिनीज़

(यूनेस्को की सहायता से प्रकाशित)

ख्याति प्राप्त अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिका Diogenes से दर्शन, इतिहास, समाजशास्त्र , राजनीतिशास्त्र आदि विषयों पर चुने हुए लेखों का हिन्दी में अनुवाद। Diogenes अन्तर्राष्ट्रीय दार्शनिक तथा मानविकी परिषद् की त्रैमासिक पत्रिका है जो यूनेस्को की सहायता से अंग्रेजी, फ्रैंच, जर्मन, स्पेनिश तथा अरबी भाषा में प्रकाशित होती है।

प्रत्येक अंक का मूल्य :	: पुस्कालयों के लिये	: 10 रु.
	: विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के लिये	: 5 रु.

पता :
डॉ. के. एल. शर्मा
प्रबन्ध सम्पादक,
C - 207, अरविन्द मार्ग, तिलक नगर
जयपुर 302004, (राजस्थान)

डायोजिनीज़

(यूनेस्को की सहायता से प्रकाशित)

हिन्दी डायोजिनीज के प्रथम, द्वितीय तृतीय चतुर्थ पंचम षष्टम् सप्तम् एवं अष्टम् अंक में निम्न लेखों का चयन है :

अंक 1.
1. श्रीरमा इन्द्रदेव - प्राचीन भारत और ईरान के बीच सांस्कृतिक सम्पर्क।
2. लियोनिद एम. बाटकिन - मेक्यावेलि : अनुभव व परिकल्पना
3. जार्ज एफ. डब्लयु यंग - ऐतिहासिक गत्यात्मकता का सिद्धांत
4. जोइन डी. लुक्का - क्या दर्शन ही दार्शनिकों की कब्र खोदेगा ?
5. ईवेण्ड्रो एगाजी - क्या वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता बिना माप के सम्भव है ?

अंक 2.
1. पियरे मोइनो - सांस्कृतिक सह-अस्तित्व
2. इन्द्रदेव - निरक्षर लोगों का सांस्कृतिक स्तर
3. दयाकृष्ण - विज्ञान, तकनीकी एवं मूल्य
4. सेम्मूअल एन आइसन्सडाट - बेबर के धर्म सम्बन्धी समाजशास्त्रीय अध्ययन की आधुनिक गैर-योरोपीय सभ्यता एवम् समाजों में परिवर्तन की प्रक्रियाओं की व्याख्या हेतु उपादेयता
5. जैकिलीन दि रोमिली-प्राचीन ग्रीस में विनम्रता एवं सभ्यता

संख्या 9, 1987; रूपा प्रिन्टर्स एण्ड एसोसिएट्स जयपुर - 302004

विषय - सूची

1. विज्ञान के ऐतिहासिक आयाम और उसका दर्शन	: इवान्द्रो अगासी	1
2. सत्य और संशयवाद	: पिअर ऑविन्के	18
3. कला का सत्य	: इवान्गेलौस ए. मूत्सोपूलो	28
4. क्या ब्रहमाण्ड बदल रहा है ?	: ज्यॉ औदूजे	36
5. सार्वलौकिक साहित्य और अन्य की समस्या	: फौजी बोबिया	51
6. जीव विज्ञान और चिकित्साशास्त्र में चिन्तन की विधा	: ज्याँ हामबुरगर	69

अंक 3. 1. रईमुण्डो पनिक्कर-क्या मानव अधिकारों की अवधारणा का स्त्रोत पश्चिम है
2. रोमिला थापर - आरम्भिक भारतीय परम्परा में विसम्मति तथा विरोध
3. मेरिया इसोरा डिक्वीरोज - धार्मिक विकास और सर्जन : अफ्रीकी-ब्राजीली धर्म सम्प्रदाय
4. ल्यूबोमिर ड्रैमालिव - नैतिक तथा राजनैतिक उत्तरदायित्वों के परिप्रेक्ष्य में बुद्धिजीवी।

अंक 4. 1. वीरेन्द्र शेखावत - सिद्धान्त रचना की दो विधियां - विज्ञानीय ज्ञान की तुलना में दार्शनिक ज्ञान
2. जॉन डब्ल्यू. मरफी - समालोचनात्मक सिद्धान्त धारा तथा समाजिक संगठन
3. आर. एल. फ्रैंक्लिन - संकल्प - स्वातंत्र्य, कारणता तथा विज्ञान
4. कैनेथ जी. बटलर - न्याय सिद्धान्त की औचित्यपरक व्यवस्था की रुप रेखा : एक सामान्य संरचनात्मक दृष्टिकोण

अंक 5. 1. वीरेन्द्र शेखावत - विज्ञान दर्शन में कुछ ज्ञान - मीमांसीय प्रचलन
2. लुक रासीन - स्वर्ग, स्वर्णिम युग, मिलीनियम और यूटोपिया - आदर्श समाज के विविध कल्पित स्वरुपों का संक्षिप्त विश्लेषण
3. एरिक जे. हॉब्सबॉम - मार्क्स तथा इतिहास
4. टिलो शाबर्ट - आधुनिकता और इतिहास
5. हेराल्ड आई. ब्राउन - पैराडाइम पैराडाइम एवं सम्बन्धित धारणा

अंक 6. 1. मुंकुद लाठ - रुपान्तरण ही सर्जन
2. कृपालसिंह - तकनीकी और आधुनिक उपन्यास : एक ऐतिहासिक परिपेक्ष्य
3. दया कृष्ण - ईश्वर तथा मानव चेतना
4. डोनाल्ड आस्ट्रोव्स्की - ऐतिहासिक सिद्धान्तों का प्ररुप निरुपण
5. श्रीरमा इन्द्रदेव - भारत के पारम्परिक सामाजिक संस्तरण के स्वरुप का विकास : विभिन्न कालों की प्रक्रियाओं का विश्लेषण

अंक 7. 1. दयाकृष्ण - ईश्वर तथा राष्ट्रीय सरकार
2. फ्रान्कॉय शेने कर्म और ज्योतिप : भारतीय मानव शास्त्र का एक अज्ञात पक्ष
3. लासाना केईटा - समकालीन अफ्रीकी दर्शन : प्रणाली की खोज
4. केनेथ जी बटलर - पैर बांध रखने की प्रथा, शोषण और अनीति : एक गैर मार्क्सवादी
5. दयाकृष्ण : तुलनात्मक दर्शन : यह क्या है और इसे क्या होना चाहिए।

अंक 8 1. जान मेरेजको : दिक् और कामना
2. जैकलीन डी रोमीला : साहित्य और साहित्यिक अध्ययन : एक परिभाषा की खोज
3. गिओवन्नी बूसिनो : समाज का संकट
4. दिनेश चन्द्र माथुर : विकल्पहीन बोध, रचनात्मक शून्यता एवं अन्तिम स्वातंत्र्य पर जे. कृष्णमूर्ति
5. रुफी : विकास की धारणा का विकास

लेखक - परिचय

1. **इवान्द्रो अगासी** : 1934 में जन्म। मिलान, ऑक्सफोर्ड, मारवुर्ग एवं मुन्स्टर में अध्ययन। जेनोआ एवं फ्राईबोर्ग (स्विटजर लैण्ड) विश्वविद्यालयों में प्रोफेसर। विज्ञानों की ज्ञान मीमांसा से सम्बन्धित अनेक लेख। **लालोगीका सिम्बोलिका** (1964); **ला सिमैट्रिया** (1963); **इल कोनचैट्टोडी प्रोगरैसो नेला सिऐन्सा** (1976); ले ग्योमैट्री नॉन यूक्लीडे ए. ई. फौण्डामैण्टी डैल्ला ग्यो मैट्रिया (डी पाला डीनो के साथ) 1978; **ई सिस्टेमीट्रा सिऐन्सा ए फिलॉसोफिया** (1978) आदि।
2. **पिअर ऑविन्के** : 1929 में जन्म। पेरिस सोर्बोन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर। इनका कार्य प्रमुख रुप से यूनानी दर्शन एवं तत्वमीमांसा के इतिहास से सम्बन्धित है। **ले प्रोब्लेयम द लेयत्र शेजरे स्तोत** (पेरिस 1962); **काँसैप्त ए कातेगोरी दाँ ल पांसे आंतीख** (सम्पादित पेरिस 1981)।
3. **इवान्गलौस ए. मूत्सोपूलो** : एथेन्स में 1930 में जन्म। 1958 में पेरिस से डी. लिट.। एथेन्स विश्वविद्यालय में रैक्टर। **ला मुजीक दां ल्यूबरे दा प्लातोन** (पेरिस 1959); **काँ फोर्मिस्म ए द्य फोर्मासियों** (पेरिस 1978) ले स्त्रुकत्युर दे लिमाजिनेअर दां लां फिलोसिफी दे प्रोक्लुस्त्रु (1985) आदि।
4. **ज्यां औदूजे : 1940 में जन्म।** CNRS में शोध के अध्यक्ष। पेरिस में CNRS के खगोल भौतिकी के **इन्स्टीट्यूट के संचालक।** इकोल पोली-तैकनीक में खगोल भौतिकी का अध्यापन। ऐंसिक्लोपीडिया **युनीवर्सिलिस** में प्रकाशित लेख : ओज्यूर दूई लूनीवर्स; ल ग्रांद आतलस दस्त्रोनोमी; **ला स्त्रो फिजीक नुक्लेयर।**
5. **फौजी बोबिया** : **मोरक्को में सन्** 1948 में जन्म। रवत में, मानतीय विज्ञान एवं साहित्य के संकाय में प्रोफेसर। राजनीति का थियेटर जो मूलतः जर्मन और फ्रेंच में प्रकाशित (1976)। पाश्चात्य साहित्य एवं विचार में (विशेपकर फ्रांसीसी एवं जर्मन) सांस्कृतिक अन्यत्वं के अध्ययन के प्रति समर्पित। मगरवी साहित्य में भी रुचि।
6. **ज्यां हामबुरगर** : 1909 में जन्म। पेरिस विश्वविद्यालय में चिकित्सा शास्त्र के प्रोफेसर। हॉस्पिटल नेक्कर में नैफ्रोलॉजी के अध्यक्ष। प्रत्यारोपण की इम्यूनोलॉजी में खोज की प्रयोगशाला के निदेशक। फ्रान्स के इन्स्टीट्यूट के सदस्य (फ्रांस की विभिन्न अकादमी संस्थाओं के सदस्य)। उनकी पुस्तक : **लाँ पिसांस इलाफ्रजीलिते**, चौदह भापाओं में अनुदित हुई हैं।

अनुवादक - परिचय

1. डॉ. वीरेन्द्रसिंह : इलाहबाद वि. वि. से एम. ए. (हिन्दी) और पीएच. डी.। हिन्दी कविता में प्रतीकवाद, विज्ञानदर्शन, मिथक दर्शन आदि लगभग दस पुस्तकों के लेखक जाने-माने आलोचक डॉ. सिंह अपनी रचनाओं के लिये पुरष्कृत भी हो चुके हैं। सम्प्रति, राजस्थान विश्वविद्यालय में एसोसियेट प्रोफेसर के पद पर कार्यरत हैं।
2. डॉ. (श्रीमती) सुशीला डोभाल : इंगलिश में एम.ए. तथा हिन्दी में उनका व्यापक अध्ययन है। भाषा का जातीय संस्कार और उसके सहज मुहावरे से उनका लगाव है। इसका परिचय उनके विशद अनुवाद कार्य में परिलक्षित होता है। श्रीमती डोभाल ने शिक्षाशास्त्र, दर्शन, सौन्दर्यशास्त्र व साहित्य के क्षेत्र में स्तरीय अनुवाद किया है।
3. डॉ. प्रेम सागर : फरीदकोट (पंजाब) में 1928 में जन्म। पंजाब वि.वि. से एम.ए. (हिन्दी) एवं पीएच. डी.। पंजाब में विभिन्न राजकीय कालेजों में अध्यापन कार्य। 1975 से 1983 तक विभिन्न राजकीय कालेजों में प्राचार्य पद पर रहे। पंजाब स्कूल शिक्षा बोर्ड के वाइस चेयरमैन भी रहे। हिन्दी साहित्य से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें लिखीं, अनुवाद किये, सम्पादन कार्य किया। हिन्दी और पंजाबी में अनेक लेख प्रकाशित।
4. डॉ. महावीर दाधीच : राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी में भापा अधिकारी के पद पर कार्यरत। अस्तित्ववाद शीर्षक से एक पुस्तक-प्रकाशित। साहित्य और दर्शन से सम्बन्धित विषयों पर अनेक निबंध और समीक्षाऐं प्रकाशित।
5. विवेकशर्मा : चिकित्साशास्त्र के विद्यार्थी। साहित्यक लेखन में रुचि। कई कविताऐं प्रकाशित। स्कूल एवं कालेज स्तर पर पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन।

विज्ञान के ऐतिहासिक आयाम और उसका दर्शन*

-इवान्ड्रो अगाज़ी

जब हम मानवीय सभ्यता में मानसिक जीवन के विभिन्न रुपों और अभिव्यक्तियों को देखने, समझने और गुणग्राहकता की दृष्टि से विचार करते हैं, तब हम एक आश्चर्यजनक तथ्य के प्रति जागरुक होते हैं। हम सहज और अनायास रुप से उन्हें एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने का प्रयत्न करते हैं और तदनुरुप उनका "ऐतिहासिक चेतना" की दृष्टि से मूल्याकंन करते हैं। पर इस सारी प्रक्रिया में एक अपवाद है, और वह अपवाद है विज्ञान। इसे मानने में शायद ही किसी को कठिनाई हो कि होमर, वर्जिल, दांते, गेटे या बादेलेयर की कविता सदा से एक प्रामाणिक कविता रही है जिसने निरपेक्ष मूल्यवत्ता की ऊचाईयों को प्राप्त किया है और कभी कभी वह अतुलनीय भी रही है। इस कविता को समझने के लिए उसकी उदात्तता और उसके अर्थ के अवगाहन के लिए उसे ऐतिहासिक संदर्भ में रखकर विवेचित करना आवश्यक है। और आदर्श तो यह है कि मूल्याकंन करने वाला स्वयं अपने आपको भी उस संदर्भ में रखे, न कि यह कि उनके काव्य को अपने समय के काव्य-रुपों और प्रतिमानों की दृष्टि से मूल्याकंन करे। अभी जो बात मैंने कविता के सम्बन्ध में कही है, वह संगीत, ललितकलाओं, दर्शन, विधि, सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं, नैतिक अवधारणाओं, धर्म और रीति-रिवाजों के बारे में भी सत्य है। दूसरी ओर, अनेक परिष्कृत लोगों में भी यह मान्यता है कि विज्ञानों में इस ऐतिहासिक चेतना का लगभग अभाव है, इन लोगों के ज्ञान-भंडार में विज्ञान के इतिहास का कोई विशेष स्थान नहीं है और इसका कारण ऐतिहासिक चेतना का उतना अभाव न होकर वास्तव में उसका परिणाम ही है। यह इसलिए कि हमने अचेतन रुप से विज्ञान का अध्ययन और अनुशीलन इस प्रकार किया है जैसे वह ऐतिहासिक घटना ही नहीं है। हमारे मानसिक पटल पर अंकित हो गया है कि विज्ञान का कोई यथार्थ इतिहास नहीं है।

---

*Evandro Agazzi: The Historical Dimensions of Science and its Philosophy, **Diogenes**, No. 132, winter 1985, pp. 60-79.

अनुवाद : वीरेन्द्र सिंह

यह वक्तव्य कुछ स्पष्टीकरण चाहता है। सत्य में, जिन्होंने अनिवार्य शिक्षा प्राप्त की है और जो गणित या कोई अन्य विज्ञान के अध्ययन की ओर प्रेरित हुए हैं, वे अवश्य ही पाइथागोरस, थेल्स तथा यूक्लिड की गणितीय पद्धति से सिद्ध किये हुए फार्मूलों (Theorems) से देकार्त के निर्देशांकों (Coordinates) से, आर्किमिडीज के सिद्धान्त तथा न्यूटन के नियम से अवश्य परिचित हुए होंगे। वे कदाचित टॉलमी और कोपर्निकस की विश्व व्यवस्था से अथवा डार्विन के विकासवाद से भी परिचित होंगे और इसके साथ ही उन्हें यह भी पता होगा कि ये सभी लोग किसी पुराने युग से सम्बन्धित हैं, फिर चाहे वह बहुत पहले हुआ हो या किसी नजदीक के समय में। यह सब यह प्रमाणित करने के लिए काफी है कि विज्ञान का भी एक "अतीत" है क्योंकि ये नाम किसी न किसी विशिष्ट अनुसंधान से सम्बन्धित हैं जिनका किसी तार्किक, व्यवस्थित, शिक्षात्मक (Dialectic) या अन्य मानदण्डों के द्वारा प्रतिपादन (Exposition) हुआ है, परन्तु ये सब ऐतिहासिक दृष्टि के बाहर की बात है। ये नाम केवल स्मृत्यात्मक हैं और इनका संदर्भ केवल उस कथन से सम्बन्धित है जिसका अर्थ और मूल्य किसी समकालीन विज्ञान में उसके स्थान द्वारा निर्धारित होता है। अतः आज के प्रचलित वैज्ञानिक सिद्धान्त को समझना कठिन नहीं है, इसे कुछ इस प्रकार देखा जाता है कि इसका केवल वर्तमान ही है (इसे ज्ञान की वर्तमान स्थिति के रुप में भी परिभाषित किया जा सकता है)। पर जो गुजर गया है, वह उसमें शामिल नहीं है, क्योंकि उस अतीत में कुछ सुरक्षित रखने योग्य था तो वह वर्तमान में स्वयं समाविष्ट है (अतः वह अब भी वर्तमान है)। इसके अतिरिक्त जो भी शेष रहता है, वह विस्मृत कर दिया जाता है और उसके प्रति न कोई अभिरुचि रह जाती है और न उसका कोई महत्व ही होता है।

इस परिप्रेक्ष्य में कुछ रुढ़िगत अवधारणाएं साधारण रुप में प्राप्त होती हैं। सामान्य रुप से यह विश्वास किया जाता है कि जिसे हम वास्तव में विज्ञान कहते हैं वह अभी हाल की ही घटना है इसके पहले यदा-कदा कुछ अन्वेषण या खोज अवश्य हुई थी पर वह अकस्मात या यादृच्छिक ही थी और वह एक ऐसे बौद्धिक संदर्भ से सम्बन्धित थी जो अपरिष्कृत और अस्पष्ट था। इसका कदाचित केवल एक ही अपवाद है, वह है यूनानी गणित जिसमें हम एक उच्च श्रेणी की तार्किक परिपक्वता पाते हैं और एक प्रकार से विज्ञान की कहानी की इस संक्षिप्तता के कारण इसका ऐतिहासिक पुनर्निमाण आसान होना चाहिये, पर उसके लिए कोई बौद्धिक आकर्षण होने का कारण यह है कि इस प्रकार का इतिहास एक तरह से 'सत्य' और त्रुटि (Error) की तालिका में बनकर ही रह जाएगा। इनमें से एक (सत्य) इसलिए अनुपयोगी है कि वह वर्तामान विज्ञान में मूलतः संगृहीत और आरक्षित है और दूसरा (त्रुटि) इसलिए कि वे केवल "त्रुटियाँ" ही है। अतः हम यह स्पष्ट रुप से देखते हैं कि विज्ञान के क्षेत्र में क्यों अतीत का मूल्यांकन वर्तमान की सापेक्षता में होता है उसका वास्तविक उद्देश्य अपने को किसी भी दशा में उससे "मुक्त" करना होता है। यह स्थिति मानसिक जीवन के अन्य रुपों से मूलतः भिन्न है।

उपर्युक्त आश्चर्यजनक अंतर का क्या कारण है ? इस प्रश्न का पहला उत्तर (या संभावित उत्तर का प्रथम भाग) योरुपीय संस्कृति के उस ऐतिहासिक काल से है जिसमें इतिहास बोध का विकास एक आधारभूत घटक के रुप में होता है अर्थात् वह रोमांटिक युग जो ऐतिहासिकता के मनोभाव से अनुप्रेरित और शासित था जिसकी अभिव्यक्ति उस युग के दार्शनिक विचारों, कलात्मक कृतियों, साहित्यकारों और मुख्य रुप से उस युग के इतिहासकारों में प्राप्त होती है। इन्होंने अपने को मात्र राजनैतिक इतिहास तक सीमित नहीं रखा, अपितु उन्होंने मानवीय संस्कृति के सभी रुपों का

पुनर्सृजन और व्याख्या प्रस्तुत की।

इनके लिए इतिहास की अनिवार्यता मात्र तथ्यों की वास्तविकता का पता लगाने के लिये नहीं थी, वरन् उनके लिए यह चेतना का एक ऐसा अनिवार्य आयाम था जो उस साधारण तार्किक विश्लेषण से परे की वस्तु थी जिस पर प्रबुद्ध युग (Enlightment) के मनुष्यों की सभी आशाएं केन्द्रित थीं। इनके लिए इतिहास अतीत के प्रति एक ऐसी प्रश्नाकुलता थी जो वर्तमान को जीवंतता प्रदान करती थी। वर्तमान और अतीत का एक ऐसा संवाद थी जो अपने में भविष्य के लिए स्फूर्ति समाहित किए हुए थी और यह 'अर्थों' का एक ऐसा विशद् भंडार थी जो साक्षात्कार और प्रत्याशा की भूमिका अदा करती थी। इस दृष्टि में हम प्रत्येक शताब्दी की महानता को हृदयंगम करते हैं और इतिहासकार का यह कार्य है कि वह हरेक आंतरिक ज्ञान को उस रुप में एकत्र करे जैसा कि वह मूलतः था। प्रत्येक काल का विवेचन उसकी अपनी सापेक्षता में होना चाहिए क्योंकि वह एक ऐसा साक्ष्य है जिसे मानवता ने अपने को युगों-युगों के लिये दिया है। यही रांके (Ranke) के प्रसिद्ध वक्तव्य का सही अर्थ है कि इतिहासकार का कार्य "यथार्थतः क्या घटित हुआ है", यह दिखलाना है उसका यह कथन प्रत्यक्षवादी पद्धति (Positivist Methodology) के उस कार्यक्रम को व्यक्त नहीं करता है जो ऐतिहासिक "तथ्यों" को केवल तटस्थ और अव्याख्येय संदर्भों में ही प्रस्तुत करता है। (वास्तव में तो यह प्रत्यक्षमूलक विचार पद्धति इसके बहुत बाद में आई) राकें का कथन तो उस प्रगतिमूलक दृष्टि के विरोध में था जो प्रबुद्ध युग की ऐतिहासिक दृष्टि में पाई जाती थी और जो हेगेल में भी मिलती है। हेगेल अतीत को ऐसे रुप में देखता है जैसे उसका सम्पूर्ण सत्व वर्तमान को उत्पन्न करने में ही हो, क्योंकि वही उसको अर्थवत्ता और पूर्णता प्रदान करता है। परन्तु यह तो उसके बिलकुल विपरीत था जो कि इतिहासकार करने की चेष्टा कर रहे थे, हालांकि वे भी भ्रमपूर्वक यह समझ बैठे कि हेगेल इत्यादि वही कर रहे हैं जो वे स्वयं इतिहास के क्षेत्र में कर रहे हैं।

इस इतिहास केन्द्रित विचारधारा के समानान्तर 19वीं शताब्दी के इन्हीं दशकों में एक अन्य विचारधारा का विकास हुआ जिसे प्रत्यक्षवाद के नाम से जाना जाता है और जिसने पूर्ववर्ती शताब्दी में इतिहास के विकास मूलक और विकासोन्मुख दृष्टिकोण के प्रति अपने तरीके से प्रतिक्रिया की। ऑगस्ट कॉम्ते ने यह प्रस्तावित किया कि ज्ञान के उस प्रत्येक क्षेत्र में जिसमें मनुष्य ने यथार्थ को जानने का प्रयत्न किया है, तीन सोपान अन्तर्निहित हैं - धर्मशास्त्रीय, तत्वमीमांसीय और प्रत्यक्षवादी। इनमें से अन्तिम (प्रत्यक्षवादी) किसी ज्ञान की शाखा का वह क्षण है जब वह विज्ञान का रुप ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार, वह एक निश्चित परिपक्वता प्राप्त करता है। यहां हम प्रथम दृष्टि में कह सकते हैं कि इस परिकल्पना में हम मानवीय विचार के विकास का एक ऐतिहासिक संबोध प्राप्त करते हैं, लेकिन ध्यान से देखने पर पता लगेगा कि वास्तव में इतिहास की गति को प्रागानुभविक (Aprori) व्याख्या के अन्तर्गत लाया गया जो अमूर्त और यादृच्छिक थी। इस दृष्टि में अनिवार्यतः अतीत का एक नकारात्मक मूल्यांकन ही हो सकता है। और क्योंकि वह ज्ञान मूलतः वस्तुओं के प्रति सही दृष्टिकोण न होने के कारण अपरिपक्व था, इसलिए उसे केवल विस्मृत एवं अतिक्रमित ही किया जाना चाहिए। परन्तु यह तभी संभव है जब वैज्ञानिक ज्ञान का प्रकाश हमें इन अन्य आदिम ज्ञान प्रकारों के छायाभासों और मृगमरीचिकाओं से मुक्त कर सके। इस विचार की हेगेल और मार्क्स के इतिहास सम्बन्धी विचारों से समानता स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। हेगेल के लिये मानव विचार के इतिहास की परिसमाप्ति उसके अपने विचार संस्थान में होती है, जबकि मार्क्स के लिये सारे

इतिहास की परिणिति उस वर्ग हीन समाज में होगी जो पूँजीवाद के श्रमिक वर्ग की एक छत्र प्रभुसत्ता के बाद अवश्यंभावी रुप में होगी। परन्तु कॉम्ते का विचार इन दोनों से ही इस दृष्टि से भिन्न है। जबकि हेगेल का सिद्धान्त तो उसकी मृत्यु के पहले ही संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा था और किसी हद तक अन्य विचारक उसके विचार का अतिक्रमण करके आगे भी बढ़ गये थे और मार्क्सवाद का वर्गहीन समाज इतने सुदूर अनिश्चित भविष्य में था कि उसमें अनन्त प्रतीक्षा की गुँजाइश थी, यह विज्ञान की असाधारण प्रगति के समय ही उसका प्रबल समर्थक बन बैठा। इन परिस्थितियों के तहत यह आश्चर्यजनक नहीं है कि योरुपीय संस्कृति अपने को आश्वस्त करले कि वास्तव में विज्ञान का कोई इतिहास नहीं है और जो पहले घटित हो चुका है, वह उसके आन्तरिक विकास का अंग नहीं है, अथवा यों कहें कि वह केवल प्राक्इतिहास (Pre-History) मात्र है जिसका कोई यथार्थ महत्व नहीं है।

अब तक जो बात मैंने कहीं है, उसके प्रति एक आपत्ति उठाई जा सकती है जिस पर अब मैं विचार करने जा रहा हूँ। कॉम्ते की स्थापना पर यह आपत्ति की जा सकती है कि उसकी स्थापना हालांकि अपनी समग्रता में बहुत ही संक्षिप्त है, फिर भी उसमें एक सर्व-स्वीकार्य तथ्य यह है कि सही अर्थ में प्राकृतिक विज्ञान का विकास केवल सत्रहवीं शताब्दी से ही माना जा सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनका कोई इतिहास ही नहीं है, परन्तु केवल यह कि यह इतिहास आधुनिक युग तक ही सीमित है। इतिहास के लिए यही काफी है कि काल के आयाम में परिवर्तन, क्रम और विकास हो और निश्चित रुप से यह विज्ञान के बारे में सही है।

इस सन्दर्भ में मेरा उत्तर है कि केवल काल को भविष्योन्मुखी रुप में देखना या स्वीकार करना ऐतिहासिक चेतना के उत्पन्न होने के लिये काफी नहीं है ? उसके लिये तो वर्तमान में अतीत की घटनाओं को उनके अपने रुप में समझने में स्वतंत्र अभिरुचि होनी चाहिये - उनके उस अर्थ में जो जब वे घटित हुई थीं उनमें था और जिनका सही मूल्य हम उस संदर्भ में ही पहचान सकते हैं। यह नहीं है कि आज के संदर्भ में उनका कोई अर्थ या मूल्य ही नहीं होता या वे आज की घटनाओं को समझने में हमारी कोई सहायता नहीं करतीं। उनका अर्थ और मूल्य तो संदर्भों के साथ बदलता रहता है और साधारणतः वे अपनी विभिन्नता, न कि समानता के द्वारा आधुनिक घटनाओं को समझने में सहायक होती हैं। परन्तु यह दृष्टि ऐतिहासिक दृष्टि नहीं है, न चेतना ऐतिहासिक चेतना है। और जब कि लगभग सभी सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के लिए आज यह ऐतिहासिक दृष्टि सर्वमान्य है, विज्ञान के संदर्भ में इस दृष्टि का सर्वथा अभाव है। इसे ऐतिहासिक चेतना में शामिल करने में जो बाधा है उसका कारण शायद प्रत्यक्षवाद (Positivism) की वह अ-ऐतिहासिक दृष्टि है जो विज्ञान ने निस्संकोच स्वीकार कर ली प्रतीत होती है।

पर इसके और भी कारण हो सकते हैं जिनकी छानबीन आवश्यक है। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण यह है कि विज्ञान से हमारी अपेक्षा यह होती है कि वह यथार्थ के भिन्न पक्षों और रुपों का एक विश्वसनीय और वस्तुगत चित्र प्रदान करे। इस प्रस्तुतीकरण में उसे किसी भी प्रकार की व्याख्याओं, निर्णयों और मूल्यांकनों को नहीं मिलाना चाहिये। कला, दर्शन, विधि, धर्म और संस्कृति के संदर्भ में तो हम यह मानने को तैयार हैं कि ये सभी मानवीय व्यक्तित्व (Subjectivity) की अभिव्यक्तियां हैं अर्थात् ये सब मानवीय सृजनात्मकता तथा उसकी समृद्ध भावनात्मकता और गहरी अनुभूतियों के परिणाम हैं, और इसीलिए सहजरुप में उनके मूल रुप में ही उनका आदर करते हैं। हम उन्हें एक

ऐसी अक्षय धरोहर के रुप में देखते हैं जो सदा हमें अपनी ओर आकर्षित करती है, वह हमें कभी-कभी प्रेरणा भी देती है और कभी हमारा पथ प्रदर्शन भी करती है, परन्तु सामान्यतः तो वह हमें निस्वार्थभाव से ही आकर्षित करती है, वह इनमें व्यक्तित्व के उन तत्वों की ही उपस्थिति है जिन्हें हम विज्ञानों में से निकाल देते हैं। ये अनेक प्रकार की अभिव्यक्तियां जो इन क्षेत्रों में हमें उर्वर और अर्थपूर्ण दिखायी देती हैं, विज्ञान के क्षेत्र में अवांछनीय प्रतीत होती हैं। यही नहीं, उनको पूर्ण रुप से हटाना इसलिये भी जरुरी लगता है कि उन्हीं के द्वारा सत् अपने निश्चित और एक-निष्ठरुप में जाना जा सकता है। इस संदर्भ में यह याद रखना जरुरी है कि सत् का स्वरुप सुनिश्चित, असंदिग्ध है और एकार्थक है और इस संदर्भ में स्वतंत्रता की जरा सी भी गुजांइश नहीं है। इसलिये किसी भी वैज्ञानिक प्रतिज्ञप्ति की केवल दो ही परिणिति हो सकती हैं - एक तो यह कि वह सत्य है (क्योंकि यह जैसा यथार्थ है, उसे उसी रुप में वर्णित करती है) और इसलिये वह विज्ञान की धरोहर का एक नित्य अंग बन जाती है, या वह असत्य (फाल्स) है और उसकी ऐसी जानकारी होते ही उसे विज्ञान से बहिष्कृत कर दिया जाता है। वह ऐतिहासिक क्षण जिसमें एक सत् प्रतिज्ञप्ति का प्रतिपादन होता है, उसका उसके उस मूल्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, जो कि समग्रतः इस बात में निहित है कि वह यर्थाथ का विश्वसनीय वर्णन कहां तक करती है। यह तथ्य कि उसका आविष्कार एक शताब्दी पूर्व या एक शताब्दी बाद हुआ, विज्ञान के अन्तर्गत उसकी स्थिति और अर्थ को जरा भी बदलता नहीं है। (अधिक से अधिक यह उस शताब्दी के गौरव को ही बढ़ाता है)। इस परिप्रेक्ष्य से यह स्पष्ट है कि किसी प्रतिज्ञप्ति या वैज्ञानिक सिद्धान्त का मात्र एक ही मूल्य होता है (अर्थात् एक सत्य या असत्य मूल्य) जिसका कोई ऐतिहासिक अर्थ नहीं है, वह अ-ऐतिहासिक है, और अन्ततः समस्त विज्ञान ऐतिहासिक आयाम से वंचित है। इसको इतिहास का रुप देने का अर्थ केवल यही ही होगा कि हम 'सत्य' और असत्य प्रतिज्ञप्तियों की एक सूची तैयार करें जिसकी ओर मैंने पहले ही संकेत किया था। परन्तु इसका मूल्य सिर्फ किसी दस्तावेज जैसा होगा जो कोई पांडित्य दर्शन की इच्छा को ही संतुष्ट कर सकता है, लेकिन किसी ऐतिहासिक ज्ञान की संरचना के लिए पूर्णतः असमर्थ है। और अधिकाशंतः जो भी वैज्ञानिक इतिहास अभी तक प्रकाशित हुए हैं, वे मूलतः इसी प्रकार के हैं।

हमें इस तथ्य से विक्षुब्ध नहीं होना चाहिए क्योंकि हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि आधुनिक विचार में यथार्थ के वस्तुगत ज्ञान के प्रति एक आकर्षी तनाव (Spasmodic Tension) रहा है, विशेषकर देकार्त के आगमन के साथ जब व्यक्तिनिष्ठता केन्द्रीय तत्त्व के रुप में सामने आयी। वे लोग जो इस व्यक्तिनिष्ठता (Subjectivity) के चक्र से निकलना चाहते थे, उनके लिए "आधुनिक" विज्ञान इस दिशा में सफलता का एक ठोस उदाहरण प्रस्तुत करता प्रतीत होता था। अतः यह संयोग नहीं था कि काण्ट अपने समय की गणितीय भौतिकी से प्रेरित होकर ज्ञान की समस्या के अपने समाधान को प्रस्तुत कर सका। जिसने एक ओर वैयक्तिक "स्व" को निष्कासित किया और दूसरी ओर वस्तुगत ज्ञान के ऐतिहासिक संस्थानात्मक संदर्भ को। एक ओर संवेदना (feeling) की शुद्ध ग्राह्यकता (जो कि ज्ञान प्रक्रिया में वैयक्तिक "स्व" के "सन्निवेश" को बहिष्कृत करती है) और दूसरी ओर बुद्धि की क्रिया के समन्वयात्मक पक्ष को केवल ऐसे शुद्ध आकारिक रुप में देखकर जो किसी भी अनुभव की पूर्व मान्यता था, काण्ट ने ज्ञान के विषय में एक ऐसे सिद्धान्त को प्रतिपादित किया जो अनुभवात्मक (Phenomenal) होते हुए भी वस्तुपरक था और जिसकी शुद्धतम अभिव्यक्ति विज्ञान था। इस सबको देखते हुए हमें इस पर कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि ज्ञान

के इस निर्वैयक्तिक (a-subjective) और अ-ऐतिहासिक आदर्श ने योरुपीय संस्कृति पर इस कदर प्रभाव डाला और जिसके कारण वैज्ञानिक क्रिया को उसने ऐतिहासिक वृत से बाहर की वस्तु ही मान लिया।

परन्तु हमारी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों से ही इस विचार को संकट का सामना करना पड़ा कि विज्ञान, प्रकृति का एक 'सत्य' और अचल ज्ञान है। लेकिन इसने विज्ञान को ऐतिहासिक आयाम प्राप्त करने में कोई योगदान नहीं दिया, क्योंकि विज्ञान की अर्थक्रियावादी (Pragmatic) धारणा प्रायः सबको स्वीकार हो चुकी थी और जिसको तकनीक की अभूतपूर्व सफलता ने और भी सुदृढ़ किया, पर ऐसी दृष्टि के संदर्भ में तो विज्ञान की भूतकालीन प्रतिज्ञप्तियां और सिद्धान्तों को अब भी ग्रहण करने के प्रति और भी कम आकर्षण होगा क्योंकि यदि उनका अब हमारे लिए कोई उपयोग नहीं है, तो उन तक पुनः लौटने का कोई औचित्य ही नहीं है। विज्ञान को एक ऐसे ज्ञान-भण्डार के रुप में देखना जो हमारे लिए आज उपयोगी हो, अतीत के उस ज्ञान के लिये कोई स्थान ही नहीं छोड़ती है जिसका आज कोई उपयोग नहीं है।

ये कुछ कारण हैं जिनसे विज्ञान के सम्बन्ध में उस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के अभाव का कुछ स्पष्टीकरण होता है, जो आज भी विज्ञानों के सम्बन्ध में साधारणतः प्रचलित हैं।

फिर भी, विज्ञान को इस दृष्टि से देखने पर एक खास बात नजर-अन्दाज कर दी जाती है। और वह यह है कि विज्ञान को इस प्रकार समझने पर वह किसी अज्ञात देश के सतत् प्रगतिशील, व्यवस्थित और पूर्ण अनुसंधान के रुप में नहीं देखा जा सकता है, अपितु उसे संशिलष्ट संगीत रचना की संगीतमय व्याख्या (Interpretation) के रुप में ही देखा जा सकता है। इस संदर्भ में सभी "स्वर" मुख्यतः "प्रदत्त" रहते हैं और केवल उनके कार्यान्वयन का संकेत ही संगीतज्ञ के द्वारा सम्भव होता है।

इस पर भी, हमें इस पर आश्चर्य नहीं होता कि उस प्रत्येक लिपिबद्ध संगीत रचना की संगीतात्मक व्याख्या देने वाला प्रत्येक व्यक्ति सदैव अपने ही दंग की वैयक्तिक "व्याख्या" देता है हालांकि वह संगीत रचना प्रत्येक के लिये एक सी ही है। यही नहीं हम यहां तक भी स्वीकार करते हैं कि उसी एक रचना की एक, दो, तीन या चार व्याख्याएं भी हो सकती हैं जो एक दूसरे से पूर्ण रुपेण भिन्न होते हुए भी हमे उस रचना के प्रति ईमानदार और अलग-अलग रुप से अपने आप में अत्यधिक प्रभावशाली और उत्कृष्ट प्रतीत होती हैं। यहां पर स्पष्टतः कलाकार की मौलिकता और उसकी सृजनात्मकता की सहज प्रशंसा का प्रश्न नहीं है क्योंकि जिस संदर्भ में यह बात है, उसमें उसे कुछ नया सृजन करने का अधिकार ही नहीं है (यथा एक नयी संगीत रचना को जन्म देना) वरन् उसका कार्य तो हमें उसी से परिचित कराना है जो पहले ही मूलतः निष्पादित हो चुका है, और यदि कलाकार अपनी संगीत द्वारा दी गई प्रयोगात्मक व्याख्या के समय "मौलिकता" देने की अतिशयता में स्वयं की विश्वसनीयता से परे चला जाता है, तो हम इसे कोई अच्छी बात नहीं मानते हैं, न उसे उसके गुण के रुप में ही देखते हैं। पूर्वकथित "ईमानदारी" (Fidelity) के संदर्भ में यह बता देना जरुरी है कि इसका अर्थ संगीतात्मक व्याख्या की किसी उस तथाकथित अनुरुपता से नहीं है जो कई लोगों के अनुसार उससे होनी चाहिये जो रचयिता चाहता था वरन् उससे जो स्वर में ही 'वस्तुपरक' सृजनात्मक आयाम के रुप में निहित है परन्तु जिसे रुपायित और अभिव्यक्त होने के लिये व्याख्याकार की सौंदर्यानुभूति के माध्यम की आवश्यकता है।

अतः इन आयामों की द्विध्रुवीय (Bipolar) स्थिति है : एक तो व्याख्याकार (interpreter) की अनुभूति और दूसरे, संगीत की वह मूर्त संरचना जिसका साक्षात्कार व्याख्याकार के माध्यम के बगैर संभव नहीं है - इन दोनों "दृष्टिकोणों" (point of views) की संधि से ही एक सार्थक साक्षात्कार का होना संभव है। परन्तु स्थिति को इस तरह समझना वास्तव में ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ये तथाकथित आयाम भी वहां उस प्रकार नहीं हैं जैसे धरती के गर्भ में छिपे हीरे जो धरती में पूर्व ही निर्मित हो चुके हैं और जो मात्र उत्खनन द्वारा प्रकाश में आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं, वे तो वहां आसन्न या मात्र सम्भाव्य रुप में ही अवस्थित हैं, उसी प्रकार जैसे किसी ठोस पदार्थ में अनेक विभिन्न तराशों या कटावों (cuts) का होना। उनमें से हरके कटाव (cuts) उसी समय निश्चित हो जाता है जैसे ही उसके काटने की योजना का निर्वाचन किया जाता है, लेकिन इससे पूर्व वह एक अनिश्चित संभावना के रुप में ही रहता है।

संगीत रचना की प्रयोगात्मक व्याख्या के संदर्भ में भी हमें कोई अध्यवसायी परन्तु प्रतिभाहीन कलाकार प्राप्त हो सकता है जो अपने को लिखित संगीत के शुद्ध स्वरों तक ही सीमित रखता है। इसके विपरीत हमें अनेक ऐसे भी व्याख्याकार प्राप्त हो सकते हैं जो इस बात को ध्यान में रखते हुए कि रचना निर्देश के सम्बन्ध में जरा भी असावधानी न बरतें और इसके साथ ही अपनी (इसे परिभाषित करना और भी दुर्लभ है) 'समग्रता' में रचना के अर्थ को सुरक्षित रखते हुए अपनी विशिष्ट कलात्मक दृष्टि का भी प्रदर्शन करें। ऐसे ही लोग न्यूनाधिक रुप से, रचना में निहित तत्त्व के आकर्षक "रुप" प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं।

अब एक प्रकार से वैज्ञानिक ज्ञान की गतिशीलता कलात्मक व्याख्या के अधिक निकट प्रतीत होती है, हांलाकि बहुत कम लोगों ने इस प्रकार देखने की कोशिश की है। वास्तव में वस्तुओं का वास्तविक यथार्थ कुछ लिपिबद्ध संगीत के समान लगता है जिसकी आतंरिक गहनता अनेक व्याख्याओं की मांग करती है क्योंकि वह भी अनेक रुपों का सम्मिलित मिश्रण है जो किसी "दृष्टिकोण" के हस्तक्षेप के बिना संभावना से यथार्थ का रुप ग्रहण नहीं कर सकता। परन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि हम व्याख्याकार के इस हस्तक्षेप को चेतना के प्रागानुभविक स्तर (Transcendental) के रुप में नहीं समझें। यदि यह स्तर है (जिसको नकारना कठिन है, लेकिन फिर भी यह निश्चित रुप से कहना कि वह किन तत्वों से निर्मित है, कठिन है), तो वह कुछ ऐसा तत्त्व है जो आदर्शतः विज्ञान की ज्ञान प्रक्रिया के "पूर्व" ही हस्तक्षेप करता है। अपने उदाहरण के संदर्भ में कहें तो यह प्रागानुभविक संरचना कुछ उस प्रकार की है जो हमें संगीत की स्वरलिपि को ठीक प्रकार से पढ़ने में सहायता देती है और इसकी समानता सामान्य अनुभव के स्तर पर प्राप्त यथार्थ ज्ञान से की जा सकती है। जिस प्रकार लिपि बद्ध स्वर संगीत की प्रयोगात्मक व्याख्या इस बात से शुरु होती है कि हम उस स्वरलिपि को सही सही पढ़ सकें और उसके साथ इस बाध्यता को महसूस करें कि हमारी व्याख्या के द्वारा उसकी विकृति न हो, उसी प्रकार विभिन्न विज्ञानों का आरम्भ सामान्य अनुभव से ही होता है और इस बाध्यता को लिये हुए कि वह उसके विपरीत न जाये। इस तरह से विज्ञान एक प्रकार से साधारण ज्ञान में निहित प्रागानुभविक पूर्वापेक्षाओं को पूर्व मान्य कर चलता है और उनको प्रयोग में भी लाता है। फिर भी इस तथ्य को समझना चाहिये कि विज्ञान सामान्य अनुभव के स्तर को अतिक्रमित करता है और यह इसलिए घटित होता है कि प्रत्येक विज्ञान हरेक यथार्थ के प्रति एक विशेष "दृष्टिकोण" रखता है। अतः मूलतः यह दृष्टिकोण बुद्धि की संरचनात्मक प्रागानुभविक

(A-priori) विशेषता नहीं है और न यह ज्ञान की कोई प्रागनुभविक शर्त है। यह तो केवल उस व्याख्या का ही अपना दृष्टिकोण है। फलतः प्रत्येक विज्ञान प्रदत्त 'वस्तुओं' के यथार्थ को अपने अपने दृष्टिकोण की परिधि में और उसके द्वारा ही एक विशिष्ट रुप में देखता है और उसकी समस्त संभावनाओं को विकसित करता है। हमने यहां जिसे 'दृष्टिकोण' (Point of view) की संज्ञा दी है, उसे और अधिक तकनीकी दार्शनिक पदावली में बोधगम्यता के "मानदण्ड" भी कहा जा सकता है। लेकिन यह हमें शुद्ध ज्ञान की उन प्रागनुभविक मान्यताओं की ओर ले जा सकती है जहां हम नहीं जाना चाहते क्योंकि हमारा उद्देश्य यहां केवल यह देखना है कि इस विशिष्ट आनुभविक स्तर पर हम क्या नया शामिल करते हैं।

अन्य स्थानों पर मैंने यह बताने की चेष्टा की है कि वैज्ञानिक ज्ञान वास्तव में वस्तुओं के उस "संसार" के बारे में होता है जिसका वह एक प्रकार से स्वयं ही सृजन करता है। यह संसार साधारण अनुभव की वस्तुओं को एक विशिष्ट प्रकार के दृष्टिकोण से बनाया जाता है जो प्रक्रिया ऐसे प्रत्ययों की सहायता से की जाती है जिनका अर्थ अनिवार्यतः किसी प्रायोगात्मक विधि के द्वारा किया जाता है। इसलिए मैं यहां पर उन सभी स्थापनाओं की पुनरावृत्ति नहीं करुंगा, वरन् इसके स्थान पर मैं यहां पर उस व्याख्या के स्वरुप पर विचार करुंगा जो कि वैज्ञानिक वस्तुपरकता की जगत संरचना का अंग होती है। दुर्भाग्य से "व्याख्या" या "समझने" की इस प्रक्रिया को उन विज्ञानों के क्षेत्र से बिलकुल बाहर या असंगत माना जाता है जो अपने में पूर्णतः शुद्ध या सुनिश्चित माने जाते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसा भय है कि इससे एक मूलभूत अनिश्चितता उत्पन्न हो जायेगी और विज्ञान दो प्रकार की वैयक्तिकता से ग्रसित हो जायेगा क्योंकि "व्याख्या" की प्रक्रिया में जहां एक ओर जो व्याख्या कर रहा है उसकी वैयक्तिकता परिलक्षित होती है, वहीं दूसरी ओर उसका सम्बन्ध उन अन्तर्निहित आशयों या अर्थों से भी होता है जो एक प्रकार से व्याख्येय पर आरोपित किये जाते हैं। और इस प्रकार वह इस अनिश्चितता की स्थिति से कभी भी मुक्त नहीं होगा। इसी कारण उन विज्ञानों में जो गणितीय दृष्टि से सर्वाधिक सुनिश्चित हैं व्याख्या को दूर रखते हैं और केवल वर्णन मात्र तक ही अपने को सीमित रखते हैं। अधिक से अधिक वे अपनी विवेचना प्रक्रिया में तार्किक और अनुभवात्मक क्रियाओं के सुदृढ़ और स्थूल आधारों को ही स्थान देते हैं। परन्तु इस प्रकार देखने में यह मौलिक भूल है कि व्याख्या अनिवार्यतः किसी व्यक्ति के वैयक्तिक अर्थों या आशयों से सम्बन्धित नहीं है। उसका लक्ष्य तो केवल किसी वस्तु को समझने तक ही सीमित है। इस भूल का आधार शायद वह प्रसिद्ध भेद है जो करीब एक शताब्दी पूर्व प्राकृतिक एवं मानवीय विज्ञानों में मौलिक अन्तर करने के लिये किया गया था। वह भेद अर्थ बोध (verstehen) और कार्य-कारण गत अवगम्यता (Erklaren) के आधार पर किया गया था परन्तु इसमें मूल दोष यह था कि वास्तव में दोनों ही प्रकार के विज्ञानों में दोनों ही प्रकार से समझने की प्रक्रियाओं की जरुरत होती है। यही नहीं कार्य-कारण गत अवगम्यता एक प्रकार से अर्थ बोध को पूर्व मान्य कर चलती है। इसका एक कारण तो यह है कि हम उस तथ्य का कारण ढूंढने की चेष्टा ही नहीं कर सकते जिसे हम सही रुप में समझते न हों कि वह क्या है। और दूसरे, इसलिये भी क्योंकि विवेचन मूलतः एक तार्किक निष्कर्ष की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया अनिवार्यतः प्रत्ययों, विधेयों (Predicates) और श्रेणियों (categories) का प्रयोग करती है जो कि उन वक्तव्यों में परिलक्षित होते हैं जिनमें विवेचनात्मक निष्कर्ष प्रतिपादित होते हैं और जो इसीलिये एक प्रकार से पूर्वमान्य होते हैं।

निष्कर्ष रुप में हम किस विशिष्ट वैज्ञानिक संस्थान की संरचना अथवा किसी पूर्व निर्मित विज्ञान में किसी सिद्धान्त की स्थापना की प्रक्रिया को इस प्रकार समझ सकते हैं कि सामान्य स्वीकृत ज्ञान के संदर्भ में फिर चाहे वह रोजमर्रा का ज्ञान हो या किसी पूर्व-संस्थापित विज्ञान विशेष का कोई नया परिपेक्ष्य उत्पन्न होता है या वस्तुओं को देखने की एक ऐसी नई दृष्टि उत्पन्न होती है जो हमारा ध्यान 'वस्तु' के उन पक्षों की ओर आकर्षित करती है जो हमारे अनुभव में इससे पूर्व नहीं आए थे अथवा जिन पर कम ध्यान दिया गया था और जो अब तक ऐसे नये केन्द्र बिन्दु की तरह दृष्टिगत होते हैं जिसके चारों **और** हमारे ज्ञान की नयी व्याख्याएं संगठित हो सकती हैं। ये पक्ष नए प्रत्ययों, विचारों और प्रतिरुपों के विषयों को निर्देशित या संकेतित करते हैं जो इस नए अनुभव को प्रभावी ढंग से ऐसी प्रतिज्ञप्तियों (Propositions) में रुपांतरित करते हैं जिन्हें हम बिना किसी अस्पष्टता के "सत्य मूल्य" प्रदान कर सकते हैं। एक प्रकार से वैज्ञानिक अभियान की यही विशिष्टता है जो उसे व्याख्या के अन्य प्रकारों से भिन्नता और वैशिष्टय् प्रदान करती है।

यदि हमें इसमें सफलता प्राप्त हो जाती है, तब हम अपने अनुभव का वर्णन उन अवधारणाओं के माध्यम से करने की कोशिश करते हैं और इस प्रकार उन अवधारणाओं को प्रत्यक्षनिष्ठ मूर्तिमत्ता प्रदान करते हैं।इससे यह स्पष्ट लक्षित होता है कि किसी भी "व्याख्या" में विवरण स्वतः ही निहित रहता है और यह कोई प्राथमिक या अकारण बात नहीं है क्योंकि यथार्थतः ये दो प्रकार की बातों पर आधारित है : एक वह अवधारणात्मक श्रेणियां जिनसे व्याख्या रचित होती है और दूसरी, वह मूर्त (concrete) प्रक्रियाऐं जिनके द्वारा वह अनुभव से सम्बन्धित की जाती हैं। जो हम वर्णन या विवेचन करते हैं उसके आधार को इस प्रकार समझा जा सकता है, परन्तु यह भी उन्हीं व्याख्यात्मक श्रेणियों पर आश्रित होता है क्योंकि जो वक्तव्य परिकल्पित अभ्युपगम के रुप में, जो वर्णित किया जा चुका है, उसे "सत्यापित" या सिद्ध करने के लिए दिये जाते हैं उनमें भी उन्हीं प्रकार की अवधारणाओं का प्रयोग होता है हांलाकि ये उनसे भिन्न होते हैं जो प्रक्रियाओं द्वारा उन्हें अनुभव से सम्बन्धित करते हैं। यही नहीं बल्कि व्याख्यात्मक श्रेणियां नाना प्रकार की होती हैं और ज्ञान के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के संदर्भ में अलग-अलग भी हो सकती हैं। इनकी यह विविधता एक प्रकार से व्याख्यात्मक बुद्धि की अनेक रुपता और उसके अनुभव से सम्बन्धित होने के विविध प्रकारों को प्रकट करती है।

अब हम इस स्थिति में हैं कि प्रत्यक्षवादियों (नव-प्रत्यक्षवादी भी) की विज्ञान सम्बन्धी अवधारणा का मूल्यांकन कर सकें जो उसे यथार्थ की आतंरिक संरचना के ज्ञान के रुप में देखती है, जिसमें बुद्धि की प्रक्रिया द्वारा कोई परिवर्तन नहीं किया गया है, इसका कारण यह है कि प्रत्यक्षवादी शुद्ध ऐन्द्रिय अनुभव के केवल उस शुद्ध रुप का ही प्रयोग करते हैं जो प्रदत्तमात्र है इसके साथ ही उनकी तर्क और गणित की अवधारणा उसको केवल आकारिक और पुनरुक्त्यात्मक (tautological) रुपातंरण के रुप में ही होती है। परन्तु इस बात को स्वीकार करते हुए भी कि वैज्ञानिक ज्ञान के उपादान अनिवार्य रुप से अनुभव और तर्क पर आश्रित होते हैं, इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि वे कभी भी शुद्ध नहीं होते, वरन् उस व्याख्या के संदर्भ में ही जिसमें कि उनका प्रयोग होता है अपना अर्थ ग्रहण करते हैं। संगीत की प्रयोगात्मक व्याख्या, जिसकी चर्चा हमने पहले की थी, उससे इसका गहरा सादृश्य है। अप्रवीण, प्रतिभाहीन संगीतकार जो जैसा संगीत लिपि बद्ध है उसे उसी प्रकार से स्वरों के माध्यम से रुपांतरित करता है। वह, जैसा कि कहा जा चुका है, ज्ञान के "सामान्य" रुप की ही भाँति होता है,

जबकि उसी लिपिबद्ध संगीत का कोई प्रतिभा सम्पन्न संगीतकार उस स्थिति से परे जाकर एक ऐसी रचना को जन्म देता है जो उसे एक बिलकुल नया जीवंत प्राणवान रुप देती है। इसकी समानता हम वैज्ञानिक सिद्धान्त के निर्माण से कर सकते हैं। परन्तु यह "सादृश्यता" एक सीमा तक ही ठीक है। क्योंकि लिपिबद्ध संगीत की प्रायोगिक व्याख्या में और विज्ञान में जो व्याख्या होती है उसमें मूलभूत अन्तर है, संगीत का किस तरह प्रायोगिक रचनात्मक रुपान्तर किया जाये यह स्पष्टतः वैयक्तिक और व्यक्तिनिष्ठ होता है जबकि वैज्ञानिक सिद्धान्त या किसी शास्त्र के बौद्धिक आयाम का निर्धारण व्याख्या के ऐसे स्वरुप पर अवलंबित रहता है जो वैयक्तिक न होकर ऐतिहासिक होता है। हालांकि ऐसा नहीं है कि उसमें वैयक्तिक प्रतिभा का कोई अंश ही नहीं होता। दूसरे शब्दों में, किसी वैज्ञानिक शास्त्र में शास्त्रीय मान्यता के मानदण्डों का आधार जो उसके आनुभविक व सैद्धान्तिक प्रत्ययों में प्रत्यक्ष होता है, सदैव ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में निर्मित बौद्धिक वातावरण ही होता है। और यदि कभी कोई व्यक्ति इन सबको कोई नया रुप या नई दिशा देता भी है, तब भी वह एक नये वैज्ञानिक सिद्धान्त का रुप तब तक नहीं लेता जब तक कि उसे उस शास्त्र से सम्बन्धित वैज्ञानिक सम्प्रदाय की मान्यता प्राप्त न हो। यहां पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिन वैज्ञानिक दृष्टियों का आनुभविक रुपान्तर प्रयोगात्मक कार्यविधियों द्वारा हुआ है, वे भी ऐतिहासिक संदर्भ से सम्बन्धित हैं क्योंकि वे किसी युग के किसी कालविशेष में प्राप्त तकनीकी संभावनाओं के द्वारा क्रियान्वित हो पाते हैं। यही बात एक प्रकार से वैज्ञानिक विवेचनों के लिए भी सत्य है क्योंकि ये विवेचनाएं भी मूलतः उन्हीं विवेचनाओं के संदर्भ में दी जाती हैं जो कि उस युग में सार्थक समझी जाती हैं। यही बात विचार के कठोर से कठोर निष्कर्षों के लिए भी सत्य है। और साथ ही विचार के उन तकनीकी उपादानों के लिये भी जो उस विवेचन को प्रभावशाली ढंग से प्रकट कर सकें। तर्क और गणितीय सिद्धान्तों की नई व्यावस्थाऐं और उनके परिष्कार इसके उदाहरण के रुप में लिये जा सकते हैं। मैंने अन्यत्र, वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता की निर्णायक पूर्व अवस्थाओं को "ऐतिहासिक निर्धारण" (Historical determinism) की संज्ञा दी है और मैंने अभी जो कहा है, वह इस बात को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि विज्ञान का सम्बन्ध ऐतिहासिकता से उसी प्रकार का है जिस प्रकार मानवीय मन की अन्य अभिव्यक्तियों का। इस विषय में और विचार करने से पूर्व यह हमारे लिए लाभदायक होगा कि हम आज के ज्ञानमीमांसकों में व्याप्त कुछ भ्रान्तियों को दूर करें जो कि उन्हें हमारे द्वारा बताई गई इन बातों को नजर अन्दाज करने में मदद करती हैं।

यहां इस बात पर बल देना जरुरी है कि व्याख्या के जिस संदर्भ का या जिन व्याख्यात्मक कोटियों की मैंने चर्चा की है वे सार्वभौम और सर्व समन्वितदृष्टि युक्त (Holistic) हैं। परन्तु फिर भी वे अनेक आयामों में अनिश्चित हैं और इसलिये अनेक दिशाओं में विकसित हो सकती हैं। विकास की ये दिशायें कुछ विशेष अवधारणाओं पर आधारित होती हैं और साथ ही उन प्रकार्यात्मक विधियों पर जो उनमें से कुछ के साथ प्रयोगात्मक रुप से सम्बन्धित हैं। अतः इसे "सैद्धान्तिक संदर्भ" के रुप में समझना उचित नहीं है। इसको जो सही नाम दिया जा सकता है, वह "अर्थनिर्धारणात्मक प्रक्रिया" संदर्भ (Hermeneutic Context) जो कि विज्ञान की विशिष्ट आनुभविकता और सैद्धान्तिकता के परिप्रेक्ष्य में एक प्रकार से पूर्व- आनुभविक (Pre-empirical) और पूर्व-सैद्धान्तिक (Pre-theoretical) दोनों एक साथ हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक विज्ञान का "अर्थनिर्धारणात्मक" (Hermeneutic) आयाम होता है जिसे नकारा नहीं जा सकता (चाहे वह

प्राकृतिक विज्ञान हो या मानवीय विज्ञान) क्योंकि वह उसकी संरचना का अपरिहार्य अंग है।

इस बात को समझने का एक नतीजा यह है कि आनुभविक प्रदत्त जो विज्ञान का आधार होता है वह कभी भी निरपेक्ष रुप से सत्य नहीं होता। अब इस सुनिश्चित बात को जिसे ज्ञान मीमांसा के संदर्भ में पॉपर तथा उनके अनुयायियों ने हाल ही में सिद्ध किया है, को गलत रुप में इस प्रकार समझा गया है कि प्रत्येक आनुभविक या प्रत्यक्ष सम्बन्धी वाक्य अनिवार्यतः किसी न किसी रुप में पूर्वाग्रहों से ग्रसित सिद्धान्तों से प्रभावित होता है। यही वैज्ञानिक प्रतिज्ञप्तियों के बारे में वह प्रसिद्ध सिद्धान्त है जो "प्रतिज्ञप्तियों की अनिवार्य सैद्धान्तिकता" के नाम से जाना जाता है और जिसका एक सबसे अजीव निष्कर्ष यह है कि विरोधी वैज्ञानिक सिद्धान्तों की तुलना एक असंभव प्रक्रिया है और इस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में "ज्ञान" की प्रगति की बात की ही नहीं जा सकती। एक सही समस्या का यह गलत समाधान इस बात से उत्पन्न होता है कि हमने विज्ञान में, अनुभव में प्रदत्त संभावित अ-तथ्यता या असत्यता को ठीक प्रकार से समझा ही नहीं है। हम उसको इस प्रकार कह सकते हैं कि जो भी प्रदत्त या 'साक्ष्य' होता है वह कभी भी शुद्ध तथ्य मात्र नहीं होता अपितु सदैव किसी न किसी रुप में व्याख्यायित होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे सदैव और अनिवार्यतः उन वैज्ञानिक सिद्धान्तों के द्वारा या उनके संदर्भ में ही व्याख्यायित होते हैं जिनके अन्तर्गत वे आनुभविक आधार (Empirical basis) का कार्य करते हैं। इसके विपरीत, वे अनिवार्यतः उस "अर्थनिर्धारण" के संदर्भ में "व्याख्यायित" होते हैं जिसमें वह सिद्धान्त स्वयं अवस्थित होता है। उनके अर्थों का केवल कुछ ही अंश उस सैद्धान्तिक संदर्भ से प्रभावित होता है जिनमें कि उनका प्रयोग होता है। इसमें कठिनाई यह है कि वैज्ञानिक सिद्धान्त में प्रत्येक अवधारणा तार्किक रुप से अन्य अवधारणाओं से इस प्रकार जुड़ी रहती है कि वे समग्रतः किसी विशेष अर्थ को अन्य सब अर्थों से सम्बन्धित कर ही व्यक्त करती हैं और इस प्रकार प्रत्येक का अर्थ अन्य सभी पर "आश्रित" होता है। यह बात शुद्ध सैद्धान्तिक पदों के सम्बन्ध में तो और भी सही होती है। इस बात से तो इन्कार नहीं किया जा सकता, परन्तु यह भी बात उतने ही महत्व की है कि प्रत्येक **आनुभविक** पद अपना अर्थ एक साधारण भाष्यात्मक संदर्भ में ही ग्रहण करता है जिसमें कि वह किसी भी विशेष सिद्धान्त में प्रयुक्त होने से पूर्व विद्यमान होता है और वह एक प्रकार से उसका वह भाग है जो किसी भी "सैद्धान्तिक संदर्भ" का सदस्य बनकर अपना विशिष्ट अर्थ एक सा रखते हुए उसका पूरक बन जाता है। आनुभविक पदों के अर्थों में इस प्रकार भेद करने की संभावना इस तथ्य पर आधारित है (जैसा कि मैंने अन्यत्र विस्तृत रुप में बताया है) कि आनुभविक वाक्यों में विशिष्ट आनुभविक पदों का सीधा सम्बन्ध उन प्रयोगात्मक कार्यविधियों से होता है जिनकी चर्चा मैंने पहले की थी। अब जो बात इस मत के मानने वालों से, कि प्रदत्त हमेशा विकल्पात्मक मान्यताओं से संबद्ध होता है, नजर अन्दाज की जाती है वह यह है कि कोई भी पद अपने सम्पूर्ण अर्थ को किसी भी प्रयोग में पूरी तरह से अपेक्षित नहीं करता और इसलिए ऐसे अनेक उदाहरण हो सकते हैं (और हैं भी) जिसमें उनके अर्थ का केवल एक भाग ही काम में लाया जाता है, विशेषकर वह भाग जो, प्रयुक्त सैद्धान्तिक संदर्भ से स्वतंत्र हो। उदाहरणस्वरुप जब मै यह कहता हूँ कि किसी मनुष्य का वजन उस पत्थर के समान है तो मुझे यह सोचने की आवश्यकता नहीं है कि वह मनुष्य जीवित है या कि उसके पास बुद्धि है, और वह एक सामाजिक प्राणी है, आदि-आदि गुण जो पाषाण से सर्वथा भिन्न हैं, क्योंकि "मनुष्य और पाषाण" दो पदों के इन भिन्न-भिन्न गुणें को उस समय ध्यान में नहीं रखा जाता जब हम उन्हें तोलते हैं। अतः निष्कर्ष यह है

कि इस कथन में कोई सत्यता नहीं है कि सिद्धान्त चक्रक रुप में, पहले से ही यह निर्धारित कर देते हैं कि किस प्रकार के अनुभव उन्हें सत्य सिद्ध करेंगे। इसके विपरीत, विवेचन और बोधगम्यता की परिधि में सिद्धान्त और अनुभव एक दूसरे के सहयोगी होते हैं। यह सहभागिता एक ऐसे 'गेस्टाल्ट' द्वारा प्राप्त होती है जिसमें निर्धारित प्रयोगात्मक कार्यविधियाँ सबका नियमन करती हैं और जो उस अर्थ निर्धारण की प्रक्रिया को आधार प्रदान करती है जो स्वयं सबका आधार है।

पूर्ववर्ती विश्लेषण के निष्कर्षों को समग्र रुप में देखने पर हम यह निश्चित रुप से कह सकते हैं कि विज्ञान के क्षेत्र में बुद्धि के प्रयोग की पूर्वमान्यताओं को प्रकाश में लाने का काम केवल शुद्ध बुद्धि में निहित पूर्वमान्यताओं की विवेचना के द्वारा ही नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह तो ज्ञान की सभी विधाओं के लिये एक सी ही होती है। और न यह काम भाषा में निहित पूर्व मान्यताओं को उजागर करके किया जा सकता, क्योंकि वह हमें केवल उन अंतर्विरोधों में ही फंसा देगी जो इस प्रश्न से उत्पन्न होते हैं कि क्या शुद्ध प्रदत्त जैसी कोई चीज है या नहीं या कि सब कुछ किसी न किसी पूर्वाग्रह या मत विशेष से संबद्ध या ग्रसित रहता है। उसके लिये तो इनके अलावा अर्थों की पूर्वापेक्षा का अन्वेषण और ऐतिहासिकता की पूर्वमान्यताओं को भी समझना आवश्यक होगा क्योंकि विज्ञान की संरचना में बुद्धि का व्यापार केवल अपने शुद्ध रुप में ही नहीं होता, परन्तु भाषा और अर्थ के उन प्रागनुभविक संदर्भों में होता है जो स्वयं ऐतिहासिकता की छाप लिये होते हैं। यहां यह बात स्पष्ट कर देनी जरुरी है कि इस सबका यह मतलब नहीं है कि इन सब प्रागानुभविक संदर्भों के कारण वैज्ञानिक सिद्धान्त इनके अनिवार्य और पूर्व निर्धारित परिणाम हैं। वास्तव में इन सभी तत्वों में एक ऐसा संबंध रहता है कि वे एक दृष्टि को प्रभावित तथा एक दूसरे का नियमन करते हैं। अर्थ-संदर्भ एक रहते हुये भी अनुभव की आंतरिक गत्यात्मकता और तार्किक विमर्श के कारण हमें एक सिद्धान्त को दूसरे के लिए छोड़ना पड़ सकता है, लेकिन यह भी हो सकता है कि विभिन्न विज्ञानों की गतिशीलता किसी अर्थ संदर्भ के परिष्कार या परिवर्तन में सहायक हो। यही नहीं कभी कभी तो उस वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति के द्वारा प्रागानुभविक भाषिकी अथवा वैचारिक व्यवस्था में भी संशोधन हो सकता है। विज्ञान का इतिहास इसका प्रमाण है, लेकिन यह, विज्ञान के ऐतिहासिक स्वरुप को नकारने के बजाय उसे पुष्ट ही करती है और पुनः यह स्पष्ट करती है कि मानव मन और संस्कृति के विकास में विज्ञान का वही प्रभाव और स्थान है जो अन्य मानवीय अभिव्यक्तियों का।

"विज्ञान में बुद्धि के प्रयोग के विवेचनात्मक विश्लेपणें के संदर्भ में हमने जिन आभ्यांतरिक आवश्यकताओं की चर्चा की है, वे उस दिशा की ओर संकेत करती हैं जिस ओर विज्ञान-दर्शन संबंधी विचार को अग्रसर होना चाहिये। क्योंकि यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यदि विज्ञान का एक अनिवार्य ऐतिहासिक आयाम है तो उसको भुला कर किसी सही विज्ञान दर्शन की सृष्टि हो ही नहीं सकती। परन्तु इस आयाम को स्वीकारने का सही अर्थ क्या है ? प्रथम तो यह कि इससे हमें "ज्ञान-मीमांसा" की उन सब विधाओं की सीमा का पता लगता है जो केवल संरचनात्मक समस्याओं की ही ओर ध्यान देती है। विशेपकर वह जो तार्किक या भापागत होती है या केवल विधि संबंधी समस्याओं पर विचार करती है। परन्तु आज का प्रतिष्ठित विज्ञान-दर्शन जो ऑग्ल, अमरीकी प्रभाव में प्रधानतया विश्लेपणात्मक है, अधिकतर इसी प्रकार का है। हम इस प्रकार के कार्य और इससे निकले हुये निष्कर्षों के महत्व को नकारते नहीं हैं, लेकिन हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि उनके इस विचित्र स्थिति में फंस जाने का एक कारण यह है कि उनके लिये समकालीन विज्ञान केवल

भौतिकी मात्र है, और वह भी वास्तविक भौतिकी नहीं परन्तु उस का एक अत्यन्त आदर्शमूलक प्रकारात्मक रुप है जो इन्होंने ही उसे प्रदान किया है। परन्तु यह इतनी गंभीर आपत्ति नहीं है, क्योंकि यह संरचनात्मक विश्लेषण मात्र तार्किक भाषिकी के साम्राज्य तक ही सीमित है। इस साम्राज्य के बाहर की समस्याओं के समाधान में यह अक्षम है और यदि हम उन समस्याओं को तार्किक संगतता या अनुभव और सिद्धान्त के अंतः द्वन्द्व के प्रश्नों के रुप में देखने की कोशिश करते हैं, तो उनका इससे कोई भी समाधान प्राप्त नहीं होता। वास्तव में जैसा कि हम यह देख चुके है कि यह अन्तः द्वन्द्व समझा ही नहीं जा सकता यदि हम उसके उस अर्थनिर्धारणात्मक" संदर्भ को भूल जाएं जो कि इसके पीछे छिपा होता है और जो वास्तव में उनके अस्तित्व का कारण है। यदि यह बात ठीक तरह से न समझी गई तो "विज्ञान-दर्शन" अपने उस "आलोचनात्मक-कार्य" को न कर पायेगा जो उसका एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। क्योंकि इस कार्य के वगैर यह समझ पाना मुश्किल है कि कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्त तब भी स्वीकार किये जाते हैं, जब कि उनके तार्किक संबंध अस्पष्ट होते हैं या अनुभव से भी उनकी संगति ठीक नहीं बैठती।

परन्तु इसके अलावा एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। और वह यह है कि यदि विज्ञान के दार्शनिक उसी प्रकार के दोषारोपण से बचना चाहते हैं जो उन्होंने स्वयं "तत्वमीमांसा" के संदर्भ में किया है, अर्थात् एक ऐसे विमर्श का कोई अर्थ नहीं है जो यथार्थ के प्रभावशाली सम्पर्क के बिना विचारों के स्वतंत्र संसार में विचरण करता है तो उन्हें भी यह स्पष्ट रुप से दिखाना होगा कि वैज्ञानिकता का जो प्रतिरुप वे स्थापित कर रहे हैं, वह कुछ उससे मेल खाते हैं जो विज्ञान वास्तव में है और जो वैज्ञानिक जगत् को स्वीकृत हो, न कि ऐसा जो केवल कल्पना मात्र है। दूसरे शब्दों में, स्वयं विज्ञानों के दर्शनों के लिये "आनुभविक नियंत्रण" की आवश्यकता है और ऐसा नियंत्रण तभी हो सकता है जब वे विज्ञानों के इतिहास को दृष्टिपथ में रखें और यह दावा न करें कि उनमें से वे जो उनके विज्ञान के मॉडल के अनुरुप नहीं हैं "विज्ञान" कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। परन्तु ऐसा करना सरल नहीं है, क्योंकि विश्लेषणात्मक ज्ञान मीमांसा के द्वारा स्थापित मॉडल न तो आज के अनेक विज्ञानों के लिए संतोषप्रद है, और अतीत के विज्ञानों के लिए तो और भी नहीं। इस गतिरोध से बाहर जाने का मार्ग केवल यही है कि इन भिन्न-भिन्न "अर्थ निधारणात्मक संदर्भों" अथवा बोधगम्यता की कोटियों के अस्तित्व को स्वीकार करें जो एक प्रकार से उनके आनुभविक मानदण्डों को दिशा प्रदान करती है। यही नहीं, उसी से उनके आनुभविक और सैद्धान्तिक प्रत्यय भी निर्धारित होते हैं और किसी चीज को "समझने" के वे मॉडल भी जो वे स्वीकार करते हैं। ऐसा करने से हम विज्ञान के "ऐतिहासिकीकरण" की प्रक्रिया का आरम्भ करते हैं, यानि हम उसे समकालीन ऐतिहासिक संदर्भ में रख रहे होते हैं। और यदि हम ऐसा करते हैं, तो ऐसी ऐतिहासिक चेतना का उदय जो अतीत की ओर भी उन्मुख हो, मुश्किल नहीं है। यदि हम इस चेतना का और अधिक विस्तार करें, तो हम विभिन्न युगों के विज्ञानों को उनके अर्थ संदर्भ के अनुसार हृदयंगम करने की संभावना का द्वार खोल सकते हैं। इस प्रकार हम विज्ञान और दर्शन के गहरे सम्बन्ध सूत्र को देख पायेंगे, और यह बता सकेंगे कि उन्होंने कैसे जगत् और मानव की कुछ अवधारणाओं को रुपातंरित किया और कैसे उनके मूल्यांकन और संशोधन में योगदान दिया ? संक्षेप में, मानवीय सभ्यता के विकास क्रम में इनका आंतरिक योगदान देखा जा सकता है।

इस सबसे हमारा यह कहने का मतलब नहीं है कि विज्ञान-दर्शन को विज्ञान के इतिहास में पूर्ण

रुप से अन्तर्निहित कर दिया जाए। हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि मानवीय विचार के कृतित्व के रुप में विज्ञान को दार्शनिक दृष्टि से समझने की चेष्टा या भिन्न-भिन्न विज्ञानों को सब के विभिन्न रुपों या पक्षों को समझने की क्रिया के रुप में देखने की कोशिश उन विचारों और प्रत्ययों की जानकारी तथा परीक्षा के बगैर नहीं की जा सकती जिन्होंने काल-क्रम में वैज्ञानिक सिद्धान्तों के निर्माण को प्रभावित किया है। इसके साथ ही हम इस गलतफहमी को भी दूर करना चाहेंगे कि विज्ञानों का दार्शनिक संबोध उन्हें उनके ऐतिहासिक एवं सामाजिक संदर्भों में पूर्णतः "निमज्जित" कर देता है। जहां तक विज्ञान के शुद्ध और सीधे इतिहास का प्रश्न है, इस प्रकार की दृष्टि बिलकुल ही गलत होगी। और जहां तक उनके दर्शन का सम्बन्ध है, उस संदर्भ में तो वह और भी गलत सिद्ध होगी।

विज्ञान के दार्शनिक को वैज्ञानिक विचारों या सिद्धान्तों की उत्पत्ति का इतिहास बताने की आवश्यकता नहीं है और न ही उन उपकरणों को जिनके द्वारा विज्ञान में प्रगति होती है। फिर भी उनका यह दायित्व है कि वे उन विचारों, सिद्धान्तों और भौतिक या मानसिक विधियों की ओर ध्यान दें जबकि वे किसी वैज्ञानिक सिद्धान्तों के निर्माण में यथार्थ फ्रेमवर्क के रुप में काम में आते हैं यथा, किसी विज्ञान को आधारभूत अवधारणाओं के चयन में अर्थ संदर्भ को प्रस्तुत करना अथवा उन तकनीकी संभावनाओं की परिस्थिति की ओर ध्यान दिलाना जो कि उसके उपादान और प्रेक्षण की कार्यविधियों और परिमाणात्मक मापन क्रिया को अधिक सूक्ष्म और ठीक तौर पर कार्यान्वित कर सके अथवा उन तार्किक एवं गणितीय संरचनाओं की ओर ध्यान दिलाना जो किसी भी विज्ञान के लिये मूल रुप से आधारभूत होती हैं।

यदि इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को स्वीकार कर लिया जाये तो विज्ञान-दर्शन अपने को कुछ ऐसी भ्रमात्मक समस्याओं से मुक्त कर सकेगा, जो आज के विमर्श में क्षोभ उत्पन्न कर रही है और जो ऐसी स्थापनाओं की ओर लाई जा रही है जो विज्ञान दर्शन के महत्व को कम करती है। विशेष रुप से इस संदर्भ में वैज्ञानिक सिद्धान्तों की तुलनात्मकता के प्रश्न की ओर इशारा कर रहा हूँ जिसकी चर्चा मैंने पहले भी की थी और वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति की संभावना की ओर भी, जिसके महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह तो सर्वविदित ही है कि इधर कुछ ज्ञान मीमांसक वैज्ञानिक सिद्धान्तों के मध्य तुलना की संभावना को ही अस्वीकार करते हैं, और इसके फलस्वरुप विरोधी सिद्धान्तों के बीच में चयन के किसी आधार को ही नकारते हैं। और इस तरह उनके अनुसार जब एक सिद्धान्त की जगह कोई दूसरा सिद्धान्त लेता है, तो इसमें कोई "प्रगति" परिलक्षित नहीं होती। इस प्रकार वह साधारण विश्वास जिसके अनुसार विज्ञान के विकास द्वारा हमारा आज का ज्ञान पहले के ज्ञान से, गुण और मात्रा दोनों की दृष्टि से कहीं अधिक बढ़ा चढ़ा है, केवल अंधविश्वास मात्र है। परन्तु यह सामान्य विश्वास तो उन वैज्ञानिकों का भी है जो इस प्रकार की ज्ञानमीमांसा को संदेह की दृष्टि से देखते हैं जो आधारभूत वस्तुस्थिति को भी सही सिद्ध करने में असमर्थ हैं। इसके पहले तो विज्ञान दर्शन के प्रति वैज्ञानिकों की कुछ सहानुभूति थी, हालांकि उनके अनुसार वह वास्तविक समस्याओं से बहुत दूर था और केवल आकारिक एवं समस्याओं में ही उलझा रहता था, फिर भी कम से कम वह वैज्ञानिक ज्ञान के स्वरुप को समझने की कोशिश करता था। परन्तु अब यह सहानुभूति और अभिरुचि शीघ्रता से विलुप्त होती जा रही है। इससे अधिक व्यंग्यात्मक स्थिति और क्या हो सकती है कि विज्ञान के विश्लेषणात्मक दार्शनिकों ने विज्ञान के प्रति ही संवेदहीनता एवं उसके ऐतिहासिक विकास को भुलाने के कारण एक ऐसे विज्ञान की बात करनी शुरु कर दी जो केवल

उनकी कल्पना की उपज है। यही नहीं विज्ञान के भी अनेक दार्शनिक, जो अपनी कृतियों में लगातार विज्ञान के इतिहास की बात करते हैं, वे भी एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करते हैं जो इतना कृत्रिम प्रतीत होता है कि न केवल सामान्य मनुष्य बल्कि वैज्ञानिकों का समाज भी उसे अस्वीकार करता है। इस विचित्र स्थिति को कैसे समझा जाये ?

मेरे लिए इसका उत्तर बहुत कठिन नहीं है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं वैज्ञानिक सिद्धान्तों की अतुलनात्मकता की बात तार्किक-भाषा के संदर्भ में ही प्रतिपादित हुई है और इसी के कारण आनुभविक प्रत्ययों को सैद्धान्तिक प्राक्कल्पनाओं से ग्रसित पाया गया। इसी कारण विज्ञान के इतिहास को भी कुछ इस प्रकार से तोड़-मरोड़ कर देखा गया कि वह इस पूर्व मान्यता को सत्य सिद्ध करें। परन्तु यदि हम इस इतिहास के सही निष्कर्षों की ओर ध्यान दें, तो तस्वीर कुछ और ही नजर आयेगी। पहली मूलभूत बात तो यह है कि ऐसे आधारभूत अर्थ-संदर्भ रहे हैं जिन्होंने इतिहास के सतत् काल-क्रम में वैज्ञानिक अवधारणाओं या प्रत्ययों को जन्म दिया है या उनके बनने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इनमें से अनेक कुछ समय तक के लिए ही जीवित रहे, लेकिन वह अर्थ संदर्भ जिसने उन्हें जन्म दिया था भी अन्य वैज्ञानिक अवधारणाओं को जन्म देने में समर्थ था। इस प्रकार इन अर्थ-संदर्भों में एक ऐसी ऐतिहासिक स्थिरता रही है जो इन्हें इनकी विशिष्ट मूर्त अभिव्यक्तियों की अनिश्चितता से परे ले जा रखती है। उदाहरणस्वरुप परमाणु का विचार (Atomic Intention)अथवा भौतिक संसार के सातत्य की दृष्टि गणित में संभावित और वास्तविक अनंतता की अवधारणाएं, प्राकृतिक घटनाओं में संयोग अनिवार्यता की भूमिका के विभिन्न ज्ञान क्षेत्रों में प्रयोजन अथवा विभिन्न कारणों की बोधगम्यता के मानदण्डों के रुप में स्वीकार करना ये कुछ ऐसी आधारभूत अवधारणाएं हैं जिन्हें हम आसानी से उद्धृत कर सकते हैं। इनसे भी अधिक स्पष्ट और विशिष्ट उदाहरण दिक् और काल की वे विभिन्न अवधारणाएं हैं जिन्होंने विज्ञान को सदैव प्रभावित किया है। विज्ञान के इतिहास में ये विचार या अवधारणाएं बार-बार लौटती हैं और नये रुपों में विकसित होती हैं। इनका इतिहास इनमें एक ऐसी सतत् अभिरुचि दिखलाता है जैसी दर्शन के इतिहास में प्लेटो और अरस्तू की कुछ मौलिक दृष्टियों के विषय में परिलक्षित होती है, या जो राजनैतिक संस्थाओं के इतिहास में प्रजातंत्र के विचार में प्राप्त होती है, अथवा पुनः साम्पत्तिक अधिकारों के विभिन्न प्रकारों में जो हमें कानूनी (Judicial) व्यवस्थाओं के इतिहास में प्राप्त होते हैं। निष्कर्ष रुप में, यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार विधि दर्शन, विधि के इतिहास से संपुष्टित होता है, या जिस प्रकार राजनीति-दर्शन और कलादर्शन, राजनीति और कला के इतिहास से संपुष्टित होते हैं, उसी प्रकार विज्ञानों का दर्शन भी अपना वास्तविक साक्षात्कार विज्ञानों के इतिहास में ही पा सकता है। क्योंकि उसी में उसका वह मूर्त रुप है जिस पर उसे विचार करना है और जो उसकी आज की परिपक्व अवस्था की पूर्व अवस्थाएं हैं। अतीत में होते हुये भी, उनका वर्तमान में महत्व है, चाहे आज उनका सीधे रुप में कोई भी उपयोग न किया जा सके। जिस प्रकार हम दांते, बीथोवन या रोम के कानून का अध्ययन इस अभिप्राय से नहीं करते कि हम दांते की शैली में कविता करें या बीथोवन की शैली में संगीत रचना करें अथवा रोम के कानून को अपनी व्यवस्थाओं में शामिल करें, बल्कि हम उनका अध्ययन करते हैं कि हम कविता, संगीत और विधि के स्वरुप को अधिक अच्छी तरह से हृदयंगम कर सकें और इनके द्वारा अपनी काव्यात्मक, संगीतात्मक और विधीय संवेदनशीलता को अधिक परिष्कृत कर सकें। कहने का तात्पर्य यह है कि विज्ञानों के इतिहास के स्थूल ज्ञान की अपेक्षा उनका सूक्ष्म

और व्यापक ज्ञान हमें मानवीय सभ्यता के इस आधारभूत आयाम के संबोध में अधिक सहायक हो सकता है और शायद हमारी वैज्ञानिक शिक्षा में भी अधिक लाभदायक सिद्ध हो सके।

पर, इसी के साथ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि हम अतीत के वैज्ञानिक "निष्कर्षों" को बहुत अधिक महत्व न दें, और न ही उनको इस प्रकार देखें जैसेकि उनकी वैधता पूर्ण रुप से निश्चित हो गई है। हमें जिस चीज से बचना है, वह उनको इस दृष्टि से देखना है कि अतीत के विज्ञानों में जो कुछ भी मूल्यवान है, वह आज के विज्ञान में सुरक्षित है। विगत के इन अनेक वैज्ञानिक निष्कर्षों का सही मूल्यांकन करने का तरीका केवल यही है कि हम यह जानने की कोशिश करें कि अपने लम्बे इतिहास में विज्ञान ने सत् को अनेक प्रकार से मूलतः विभाजित करने की कोशिश की है, और उन्हीं के संदर्भ में अनेक वास्तविक वस्तुगत सत्यों की स्थापना की है। और ये सब सत्य मानवीय ज्ञान की चिरंतन धरोहर बन जाते हैं। इसका एक उदाहरण यूक्लिड के वे सब ज्यॉमिति संबधी सिद्ध किये गये सिद्धान्त हैं जो उनकी अपनी सीमा में आज भी उतने ही सत्य हैं जितने वे तब थे। इसके साथ ही हमें इस तथ्य को भी नहीं भूलना चाहिये कि क्या वस्तुनिष्ठ माना जायेगा यह केवल अर्थ-सन्दर्भों पर ही आश्रित नहीं रहता, बल्कि तकनीक के उस विकास पर भी जो वैज्ञानिकों द्वारा प्राप्त कुछ अवधारणाओं का "प्रयोगात्मक क्रियान्वयन" (Operationaligation) करने में मदद करते हैं। अब तकनीक का यह विकास (जिसके बारे में किसी को कोई भी संदेह नहीं है विज्ञानों में भी एक प्रकार की "प्रगति" को इंगित करता है जो सतत् संचयन की ओर अग्रसर होती है और हमें ज्ञान में सतत् संवृद्धि के प्रत्यय को समझने में सहायता देती है जिसे वैज्ञानिक ज्ञान के लिए स्वीकार करना आवश्यक है। सामान्यतः हमने ज्ञान में ऐसे संवर्धन पर दो विरोधी रुपों में विचार किया है। या तो हम इसे पुराने सिद्धान्तों के विस्तार के रुप में देखते हैं जो अपनी पूर्व जानकारी को अपने में शामिल करने के साथ-साथ अन्य नये विषयों को भी, जिनकी जानकारी उसे पहले नहीं थी, अपने में शामिल करता है, या पुराने सिद्धान्तों में गल्तियाँ पाये जाने के कारण उनमें संशोधन करता है और इस प्रकार सत्य के अधिक निकट पहुंचता है। इस दूसरी प्रक्रिया में नये अवधारणात्मक संस्थानों का सृजन होता है जिनमें पुराने सत्य नया ग्रहण करते हैं और नये सत्य जुड़ते हैं। यदि हम वैज्ञानिक सिद्धान्तों की अतुलनीयता के आग्रह को छोड़ दें तो हमें विज्ञान के इतिहास में ज्ञान की सतत् वृद्धि के ये दोनों प्रकार स्पष्ट दिखाई देंगे। परन्तु इनसे भी अधिक महत्व का एक तीसरा प्रकार भी उसमें दिखाई देगा और वह है कि पुराने सिद्धान्तों को उनके आंशिक पर वास्तविक सत्यों के साथ स्वीकार करना, बिना इस आग्रह के नये सिद्धान्त उनका स्थान लें, उनको अपने में आत्मसात करके या पूर्णरुप से उनको हटाकर। इस परिदृश्य के प्रकाश में ज्ञान की सतत् वृद्धि का एक अधिक व्यापक आयाम प्राप्त होता है। इस आयाम में अनेक सत्यों का संगतमय सह-अस्तितत्व है क्योंकि उनका सम्बन्ध विभिन्न वस्तुपरक क्षेत्रों से है, यथा - यथार्थ के भिन्न पक्ष जो विभिन्न व्याख्यात्मक कोटियों के कारण अन्वेषित हुए तथा शोध के भिन्न उपकरणों के द्वारा संभव हुए। यह सारा प्रयत्न अनेक पीढ़ियों के कार्य का परिणाम है और जो आज भी हमें आश्चर्य में डाल देता है और हमें श्रद्धा से भर देता है।

एक तुलना के द्वारा इस दृष्टिकोण को समझने में हमें और सहायता मिल सकती है। जब हम एक विशेषीकृत संग्रहालय में ऐसे वैज्ञानिक उपकरणों को देखते हैं जिन्होंने विगत शताब्दियों के शोधकर्ताओं की सहायता की थी तब हम उन उपकरणों की सौंदर्यशीलता, संपूर्णता और सुन्दर कार्यकुशलता के प्रति अक्सर आश्चर्यचकित हो जाते हैं। परन्तु उन उपकरणों की अपनी सारी

आन्तरिक मूल्यवत्ता तथा प्रवीणता के बावजूद हम यह सोच भी नहीं सकते कि उन्हें आज भी प्रयुक्त किया जाए क्योंकि आज हमारे पास उनसे भी अधिक "कार्यकुशल" उपकरण हैं। गहराई से देखने पर हम पाते हैं कि यह कार्यकुशलता पूर्णतः या आंशिक रुप से शुद्ध और सरल तकनीकी प्रगति से सम्बन्धित है और कुछ हद तक इस बात पर भी आश्रित है कि लगातार अन्य शोध के क्षेत्रों का अध्ययन करते जा रहे हैं जिनमें ये उपकरण अब कारगर नहीं हो सकते। यह बात बहुत कुछ विज्ञान के प्रयोगात्मक पक्ष से जुड़ी है। यदि हम किसी युग के विज्ञान को पूर्णरुप से समझना चाहते हैं तब "उपकरणीकरण" (Instrumentation) को ध्यान में रखना जरुरी होगा, और समय-समय पर इन उपकरणों के द्वारा उस समय संभव प्रेक्षणों और प्रयोगों को दोहराना होगा।

अपनी वैचारिक प्रक्रिया के इस स्तर तक पहुँच कर क्या हम विज्ञान को उसके समस्त आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः दे सकते हैं जो अधिकारतः उसको प्राप्त होने चाहिये, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार से रोम के कानून या माइकेलएंजिलों की मूर्तियों और जेरुसलम के मंदिरों को प्राप्त हैं। हम उनकी प्रशंसा और उनका रसास्वादन बिना इस विचार से करते हैं कि हम उनका "उपयोग" अपने युग की वास्तविक आवश्यकताओं के संदर्भ में किस प्रकार करेंगे। हमारे लिये हमारे इतिहास का वे एक जीवित अंग हैं और ऐसा ही दृष्टिकोण हमें विज्ञान के इतिहास के प्रति भी अपनाना चाहिए। इसके अतिरिक्त इसी तरह हम इस विश्वास को भी आधार प्रदान कर सकते हैं कि हम ऐसी प्रतिभाओं जैसे यूक्लिड, आर्किमिडीज, गैलीलियो, न्यूटन, मैक्सवेल आदि के उत्तराधिकारी हैं जो कि एक ऐसी महानता के मानदण्ड हैं जो हमारे समय के अनेक नोबेल पुरस्कार विजेताओं को भी दुर्लभ हैं।यही नहीं इन्होंने हमारी सभ्यता के विकास में जो योगदान दिया है वह किसी भी दशा में कला, साहित्य, दर्शन, विधि और धर्म के उच्चतम प्रतिमानों से कम नहीं है। इस बात को पूर्ण रुप से आत्मसात करने के बारे में हम यह विश्वास कर सकते हैं कि समकालीन विज्ञान हमारी सभ्यता के निर्माण में एक भूमिका अदा कर सकता है - एक ऐसी भूमिका जिसका आज अभाव है क्योंकि हमने इसे इतना संकुचित रुप दे दिया है कि आज वह केवल प्रयोगात्मक उपादेयता और अभिरुचि तक ही सीमित हो गया है।

*****

सत्य और संशयवाद*

पाइरे ऑवेन्क्यू

संशयवाद का प्रत्याख्यान करने में दर्शन की सीमाएं

सत्य क्या है ? इस सुपरिचित प्रश्न से उस व्यक्ति की व्यथा या तटस्थता मात्र ही प्रकट नहीं होती जो अपने सामने प्रस्तुत दो विरोधी स्थापनाओं में से एक को चुनने के क्षण में हिचकता हो; एक दूसरे स्तर पर इस प्रश्न का सम्बन्ध केवल उन स्थापनाओं के कथ्य से ही नहीं होता अपितु निर्णय की उन शर्तों से होता है जिनके आधार पर यह निर्णय किया जाये कि कोई स्थापना सत्य है और उसकी विरोधी स्थापना असत्य ? इस दूसरे चरण में हम अपने आपको दार्शनिक जिज्ञासा की उस विशिष्ट पद्धति तक ही सीमित रख सकते हैं जो संघटित से घटकों की ओर या जो प्रदत्त अनुभूत है, उससे अनुभव की सामान्य संभाव्यता की शर्तों की ओर अग्रसर होती है। परन्तु सत्य के सम्बन्ध में किए जाने वाले इस प्रश्न में एक ऐसी पूर्वाग्रह ग्रसित कठिनाई है जो इस प्रश्न को अलग अपना वैशिष्ट्य देती है और इसे उन सबसे अलग करती है। मैं सत्य के सम्बन्ध में विचार करके अपनी स्थापना को कैसे सत्य मान सकता हूं बगैर यह माने कि मेरे पास यह जानने के लिये कि वह सत्य है,कोई कसौटी है। परन्तु सत्य के अन्वेषण का अर्थ ही यह है कि मैं अभी स्वयं ऐसी कसौटी की तलाश में हूँ। दूसरे शब्दों में, कहें तो सत्य के सम्बन्ध में किया गया कोई भी प्रश्न चक्र में घूमता रहता है क्योंकि सत्य उत्तर पाने की मांग करने का अर्थ ही यह है कि किसी भी अन्य प्रश्न पूछे जाने की भाँति प्रश्नकर्ता को यह पता होना चाहिए कि सत्य क्या है। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए संशयवाद ने सत्य क्या है, इस प्रश्न के मनमाने उत्तरों के अलावा किसी अन्य उत्तर की सम्भावना से ही इन्कार किया है, पर किसी अन्य संभावना पर प्रश्न करने का अवसर देखा है। किन्तु क्या यह संशय खड़ा करके संशयवादी स्वयं उस चक्र से बच सकता है जिसके लिए वह अपने हठधर्मी विरोधी की भर्त्सना करता है ? यदि संशयवाद भी अन्य सिद्धान्तों की भाँति सिद्धान्तों का समुच्चय होता और

---

* Pierre Aubenque : Truth and Skepticism, **Diogenes**, No. 132, Winter 1985 pp. 95-106
अनुवाद : सुशीला डोभाल

उनके सत्य होने का दावा करता तो संशयवादी भी इस चक्र से नहीं बच सकता था। स्पष्ट है कि संशयवाद एक साथ ही दो विरोधी बातों का अनुमोदन नहीं कर सकता, एक तो यह कहना कि कोई भी स्थापना सत्य नहीं है और अपवाद रुप में अपनी स्थापना को सत्य भी मानना। अरस्तू के समय से ही संशयवाद के कट्टर विरोधी इस बात को भलीभाँति समझ गए थे कि ऐसी स्थापना जो निर्णय दे कि "प्रत्येक (स्थापना) असत्य है" अपना प्रत्याख्यान स्वयं कर देती है क्योंकि यदि सभी स्थापनाएं असत्य होती हैं तो यह कहना भी असत्य है कि "सब कुछ असत्य है।" [1] वैसे भी संशवादी प्रत्याख्यान से बच नहीं सकता भले ही वह सत्य और असत्य में भेद करने की स्थिति में हो और इस प्रकार किसी स्थापना का प्रत्याख्यान कर भी सके तो वह इस निर्णय पर पहुँचेगा कि प्रत्येक वस्तु वैसी है जैसी कि वह दिखाई देती है और जैसी कि उसे बताया जाता है, अन्य शब्दों में कहें तो, प्रत्येक स्थापना सत्य है।[2]

संशवादी समय-समय पर इस प्रकार के अतार्किक अनुमान में पड़कर अपने विरोधियों की आलोचना के लक्ष्य बने हैं। किन्तु यह बात न तो बहुत दिलचस्प है न ही बहुत आम। प्राचीन समय में संशयवादी, अथवा वे लोग जिन्हें बाद में यह नाम दिया गया, अपने आपको अफेक्टिकोई (Ephektikoi) कहते थे जिसका अर्थ है स्थगन करने में प्रवीण। बाद में उन्हें दिया जाने वाला "स्केप्टिक (संशयवादी) स्केप्सिस से निकला है जिसका अर्थ होता है शोध या अन्वेषण। यह नाम अधिक सकारात्मक है और इसीलिए बड़ी लापरवाही से दिया गया जान पड़ता है क्योंकि अन्वेषण में सत्य की धारणा निहित रहती है (अन्वेषण या खोज की ही क्यों यदि सत्य को पाने की आशा न हो), और इस प्रकार यहां भी वही मानकर चलना पड़ता है जिसकी चर्चा हम करते आए हैं। हमें तो इतिहास के क्षेत्र में संशयवादियों का आभारी होना चाहिए, विशेष रुप से उन संशयवादियों का जो उत्तर प्राचीन काल में हुए। उनमें प्रमुख था सेक्सटन इम्पीरिकस। ये संशयवादी वास्तव में, "अन्वेषक" थे और इन्होंने तथ्य से पूर्व प्रयोगात्मक पद्धति को अपनाया जिसके परिणामस्वरुप वे विज्ञान के क्षेत्र में योगदान कर सके। विशेष रुप से आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में।[3]किन्तु यहां हमारी चर्चा से सम्बन्धित बात है संशयवादी "स्थगन" की आमूल परिवर्तनवादिता और हठधर्म के प्रचारकों में इससे फैलने वाली उत्तेजना। यदि संशयवादी उन्हें न उकसाते तो हठधर्मी अपने उस चक्र, अथवा कहना चाहिए दुष्चक्र के प्रति अनजान ही बने रहते जिस पर उनका चिंतन टिका था। सौभाग्यवश प्रोटेगोरस से लेकर पायरोन तक संशयवादी विचारक पर्याप्त संख्या में हुए। इन्हें हम प्राचीनकाल तक ही सीमित रखे रहे हैं अन्यथा संशयवाद भी अन्य हठधर्मी की भाँति होकर रह जाएगा और अपना सर्वनाश आप कर लेगा। सच्चा संशयवादी किसी बात की पुष्टि नहीं करता क्योंकि पुष्टि करने का अर्थ भी यही मानना है कि आप जिस बात की पुष्टि कर रहे हैं वह सत्य है।[4] उदाहरण के लिए संशयवादी इस बात की पुष्टि नहीं करता कि सत्य को परखने का कोई मानदंड नहीं है। वह केवल इतना ध्यान में रखता है कि जब तक किसी बात के विपरीत दृढ प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक वह किसी मापदंड को मानने के लिए बाध्य नहीं। इस प्रकार वह प्रमाण एकत्र करने का समस्त भार अपने विरोधी पर ही डाल देता है। इसके परिणाम स्वरुप निर्णय का स्थगन हो जाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि संशयवादी सत्य के प्रति उदासीन होता है, अपितु यह कि वह प्रतीक्षा करता है। विरोधी की ओर से एक दावा भर करने की देर है फिर वह इस बात के लिए बाध्य हो जाएगा कि अपने हित के साथ ही वह सामान्य मानवता के हित में भी इस दावे की प्रमाणिकता की शर्तों के सम्बन्ध में अपने आप से

प्रश्न करे। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर संशयवाद सहज प्रत्याशा नहीं प्रतीत होता जो सत्य के अनिश्चित आगमन की प्रतीक्षा करती है अपितु चारों ओर फैली हुई हठधर्मिता के प्रति विद्रोह अधिक प्रतीत होता है। इस प्रकार यूनानी संस्कृति प्रधान युग का संशयवाद तितिक्षावादी हठधर्मिता की प्रतिक्रिया था और कुछ सीमा तक सुखवाद की प्रतिक्रिया भी। किन्तु संशयवाद अन्य सिद्धान्तों की भाँति नहीं है जो यह घोषणा करने के पूर्व प्रतीक्षा करे कि कोई सिद्धान्त या संवाद प्रचारित किया जा चुका है। [5] इस प्रकार संशयवाद ऐसा संवाद नहीं है जो किसी सत्य का दावा करता हो अपितु यह तो संवाद के बाद का संवाद है जिसका काम है वर्तमान संवादों के सत्य संबंधी दावों पर प्रश्नचिन्ह लगाना। आवश्यक नहीं कि विवादास्पद संवाद कोई दार्शनिक संवाद ही हो, वह सामान्य संवाद भी हो सकता है अथवा संवाद का कोई अन्य रुप हो सकता है, यहां तक कि यह संवाद विकृत स्थिति में भी हो सकता है। इससे यह सहज ही समझा जा सकता है कि दर्शन-शास्त्र के इतिहास में ऐसा क्यों हुआ कि किसी तथ्य के प्रकट होने से पूर्व ही उसके सम्बन्ध में संशय उठ खड़ा हुआ। यही कारण है कि अरस्तु ने पार्मेनिडीज, हेराक्लाइटस, एम्पेडोक्लीज यहां तक कि होमर में भी पूर्व संशयवाद की अभिव्यक्ति देखी अर्थात् विरोधी प्रतीतियों से सत्य अथवा असत्य को निश्चित करने की असंभावना। अरस्तु के अनुसार होमर भी हेक्टर की सन्निपात की अवस्था [6] के संदर्भ में सत्य का प्रश्न उठाता है। उदाहरण के लिए यह भी स्पष्ट है कि वितण्डावादी प्रोटेगोरस की स्थिति भी शायद होमर जैसी ही है, कम से कम परोक्ष रुप से तो ऐसा ही है, क्योंकि असत् पर जोर्जियास की स्थापना में कुछ लोग सत्य एवं सत्ता पर इलियाटिक दार्शनिकों (जेनोफेनीज, पार्मेनिडीज, जीनो) के संवाद जो हास्यानुकरण देखते हैं वह उचित ही है। प्रोटेगोरस दो परस्पर विरोधी वक्तव्यों (dissoi logoi) की स्थिति के सम्बन्ध में विचार करता रहता था और इन विरोधी वक्तव्यों का विषय कुछ भी हो सकता था।

इन ऐतिहासिक टिप्पणियों की सहायता से हम संशयवाद एवं हठधर्मिता के बीच होने वाले वाद-विवाद की दिशा निर्धारित कर सकते हैं। संशयवाद हठधर्मिता को अपना सत्य सिद्ध करने की चुनौती देता है, आवश्यक हुआ तो यह कह कर भी हठधर्मिता अपने मानदंडों पर खरी उतरे। संशयवाद तो इस बात की आड़ ले लेता है कि जो व्यक्ति किसी बात की पुष्टिकरता है उसी का यह कर्तव्य भी हो जाता है कि वह उस बात को सिद्ध करने के लिए प्रमाण भी जुटाए। चूंकि संशयवादी किसी बात की पुष्टि ही नहीं करता। अतः वह सोचता है कि वह प्रमाण देने के दायित्व से बच गया है किन्तु हठधर्मी भी उसे इतनी सरलता से नहीं छोड़ता। संशयवाद का प्रत्याख्यान करने के लिए हटधर्मिता जिस नीति का सहारा लेती है उसके अनुसार उनका कहना है कि संशयवादियों का उत्तर संवाद असंवाद होते हुए भी अनिवार्यतः संवाद ही रहता है। अतः उस पर भी वही नियम प्रयुक्त होता है जो अन्य संवादों पर होता है। और यह नियम है पुष्टि करना (अथवा नकारना जो कि एक ही बात है) और साथ ही जिस बात की पुष्टि की जा रही है उसके सत्य को तो (अथवा जिसे वह नकारता है उसके असत्य को) मानकर चलना ही होगा। इस प्रकार संशयवाद अपने बनाए जाल में स्वयं फंस जाता है। अपनी ही आलोचना से बच नहीं सकता।

****

मैं हठधर्मियों द्वारा प्रस्तुत संशयवाद के इस प्रत्याख्यान की विवेचना करना चाहूँगा। ऐसा करने के लिए इस प्रत्याख्यान का एक दृष्टांत लेते हैं जो प्रसिद्ध होते हुए भी भली भाँति समझा नहीं गया

है। यह वही तर्क है जिसमें अरस्तू "मेटाफिजिक्स" के "गामा" प्रकरण के चौथे अध्याय में प्रतिवाद के सिद्धान्त के विरोधियों का प्रत्याख्यान करता है। इस तर्क को इस रुप में प्रस्तुत करने के कारण इस पर कुछ टिप्पणी देना आवश्यक हो गया है। प्रतिवाद के सिद्धान्त के विरोधी न तो नकारने वाले होते हैं न ही वे ऐसे हो सकते हैं क्योंकि प्रतिवाद के सिद्धान्त को नकारने का अर्थ है उसके विरोधी सिद्धान्त के सत्य की पुष्टि करना और इसमें प्रतिवाद का सिद्धान्त ही निहित रुप से प्रयुक्त होना (या कम से कम इसका गौण प्रेमय अर्थात् व्यावर्तित मध्यपद का नियम) और यह उस सिद्धान्त को नकारने के क्षण में ही घटित होता है, वस्तुतः यह तर्क प्रायः इस ढंग से प्रस्तुत किया जाता है : प्रतिवाद के सिद्धान्त का नकार आत्म-विरोधी है। किन्तु इस तर्क में कोई दम नहीं है (क्योंकि विरोधी कह सकता है कि प्रतिवाद का आरोप यहां लागू नहीं होता क्योंकि वह प्रतिवाद के सिद्धान्त की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करता) यह तो एक कुतर्क का निर्बल उत्तर है। (कुतर्क इसलिए कि किसी स्थापना को तथ्य रुप में ग्रहण करते समय, भले ही वह नकारात्मक क्यों न हो तथ्य रुप से देखें तो संशयवादी हठ धर्मियों के ही खेमे में शामिल हो जाता है अपने ही तर्कपाश में फंस जाता है)।

वस्तुतः अरस्तू इस छिछले तर्क में नहीं पड़ा। वह तो ऐसे विरोधी की कल्पना करता है (उसके ऐतिहासिक या काल्पनिक होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता) जो न तो पुष्टि करता है न ही नकारता है, अपितु आग्रह करता है (1006 ए 5)। वह आग्रह करता है कि प्रतिवाद का सिद्धान्त उसे दृष्टांत देकर समझाया जाय। यह कहना कि प्रतिवाद का सिद्धान्त स्पष्ट है अथवा कि इसे दृष्टांत देकर समझाया नहीं जा सकता सतही उत्तर देना होगा और अरस्तू इस बात को अच्छी तरह जानता है, क्योंकि ऐसा उत्तर तभी दिया जा सकता है जब यह मान लिया जाय कि इस सिद्धान्त के सत्य का कोई मानदंड ही नहीं है (सत्यापन के लिए अनुभवगम्य मानदंड यहां मान्य नहीं है)। इस प्रकार अरस्तू यहां एक सूक्ष्म युक्ति निकालता है किन्तु इसमें भी कम से एक दोष तो स्पष्ट दिखाई देता है। यह युक्ति तभी काम करती है "जब विरोधी कुछ कहें" (1006 ए 12, 1007ए 8) किन्तु वह कुछ कहेगा ही क्यों ? हमें ज्ञात है कि इस यूनानी सभ्यता प्रधान युग के संशयवादियों ने तो "वाचाघात" का अभ्यास कर लिया था और जैसा कि स्पिनोजा ने कहा है संशयवादी "गूंगों" की जाति के लोग होते हैं। अरस्तू का कहना है कि संशयवादी को बोलना अवश्य चाहिए अन्यथा वह पेड़-पौधों के समान हो जाएगा (1006 ए 14-15)। यह तो तर्क करने के स्थान पर व्यक्ति पर ही आक्षेप करने जैसी बात प्रतीत होती है (मर्द हो तो बोलकर दिखाओ)। किन्तु इतना सब कहने की आवश्यकता ही क्या है, यह तथ्य ही विरोधियों की संतुष्टि के लिए पर्याप्त होना चाहिए कि संशयवादी चिंतन करता है और इसी कारण किसी और से नहीं तो अपने आपसे अवश्य बोलता हो ऐसी स्थिति तो तब होगी जब हम यह स्वीकार कर लें, जैसा कि प्लेटो के अनुकरण पर अरस्तू ने स्वीकार कर लिया था, कि चिंतन "आत्मा का अपने आप में संवाद" है[7] और संरचना भाषाई अथवा अर्ध-भाषाई होती हो।

यह स्वीकार कर लेने पर प्राक्मान्यता दोष के बिना भी प्रत्याख्यान किया जा सकता है क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि प्रतिपक्षी पुष्टि अथवा नकार करे ही और यदि वह दृढ़ रहे तो उसका पुष्टि और नकार दोनों से ही इनकार करना उचित ही होगा। उसका कुछ कह देना ही पर्याप्त है। अरस्तू सावधान है और वह पुष्टि अथवा नकार मात्र को संवाद कहने का लोभ संवरण करता है, और उसे उन संवादों का भी ज्ञान है जो न सत्य होते हैं न असत्य, जैसे कि प्रार्थना।[8] ऐसी अवस्था में अरस्तू

इतना तो कर ही सकता था कि विरोधी कुछ और नहीं तो "आग्रह" करने के लिए तो बाध्य है ही और आग्रह से ऐसे संवाद का आरंभ होता है जो उस बात का अंश है जिसे आज हम "परफोर्मेटिव" अथवा "इलोक्यूटरी"[x] कहते हैं। प्रत्येक स्थिति में संवाद इसी स्तर पर अथवा अधिक सामान्य स्तर पर अर्थात् बोलने के स्तर पर होता है। आवश्यक नहीं कि यह बोलना वक्तव्य ही हो। बोलने वाला किसी वस्तु को संकेतित करता है और यह वस्तु एक ही होती है जिसके बिना संवाद संदेहास्पद हो जाएगा और वह संवाद रहेगा ही नहीं। किन्तु किसी एक वस्तु को संकेतित करने का अर्थ है उस प्रत्येक बात को मेरे कथन से निकाल देना जो इस वस्तु की अर्थवत्ता का अंश नहीं है। आधुनिक अनुवाद यहां भ्रम उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु स्पष्ट है कि अरस्तू के लिए क्रिया "सेमेनाइन" का तात्पर्य उससे है जिसे फ्रेगे जिन (भाव) कहता है न कि उससे जिसे वह बेडोटुंग (तात्पर्य) कहता है। यदि संवाद की सामान्य स्थिति में "मनुष्य" शब्द का उच्चारण करता हूं तो इस शब्द का एक "अर्थ" होता है और इस अर्थ का इस बात से कोई सम्बन्ध नहीं होता कि इस शब्द द्वारा निर्दिष्ट कोई वस्तु है अथवा नहीं।

इस अर्थ को ही अरस्तू की परम्परा में "क्विडिटी" (सारतत्व) कहा गया है और जिसे स्पष्ट रुप से परिभाषित किया जा सकता है। फिर भी यह तथ्यतः (भले ही यह एक प्रकार से बुद्धि का तथ्य है) प्रतिवाद के सिद्धान्त के तथ्य को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है। जब हम "मनुष्य" कहते हैं तो हमारा अभिप्राय बुद्धितत्व संपन्न प्राणी से होता है जिसके परिणाम स्वरुप यह संभावना नहीं रह जाती कि कोई भी वस्तु जो बुद्धितत्वसंपन्न प्राणी नहीं है वस्तुतः "मनुष्य" कहा जा सकता है, साथ ही यह संभावना थी कि यह वस्तु "अ-मानव" हो सकती है, क्योंकि वह बुद्धितत्व संपन्न प्राणी नहीं है और "मनुष्य" यों नहीं कि हम तात्पर्य के सम्बन्ध में सोचे बिना ही उसे मनुष्य कह देते हैं। प्रतिवाद यहां ऐसे धरातल पर अंतर्निहित है जितना कि सामान्यतः समझा नहीं जाता। यह वचन के स्तर पर है वक्तव्य के स्तर पर नहीं। तर्क से पूर्व अर्थ प्रति-कथन की अपेक्षा करता है। बोलते समय संशयवादी को यह समझ रखना चाहिए कि प्रत्येक कही जाने वाली बात में एक पूर्ण निरुपित सत्य निहित रहता है और यह प्रश्न से परे होता है क्योंकि शब्द स्वयं, अनिवार्यतः शाब्दिक होने के नाते, इस अपेक्षा को दृढ़ करने में ही सहायक होता है।

* * * *

यह प्रतिवाद वैदग्ध्यपूर्ण है और इस वैदग्ध्य ने व्याख्याकारों की अनेक पीढ़ियों का आदर पाया है। इससे क्या यह पूर्णतः विश्वसनीय हो जाता है ? संशयवाद की शक्ति का स्त्रोत सर्वप्रथम तो इस बात में है कि प्रमाण प्रस्तुत करना वह अपना दायित्व नहीं मानता। हठधर्मिता की चाल यह है कि वह इस दायित्व को संशयवाद पर प्रयुक्त करके यह सिद्ध करना चाहता है कि प्रतिवाद में पड़े बिना संशयवाद प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकता। तो इसका अर्थ यह हुआ कि हठधर्मिता की जीत हुई ? मेरे विचार से बात ऐसी नहीं है। अंततः संशयवाद चाहता क्या है ? अपने सामान्यतम रुप में भी संशयवाद यही दर्शाना चाहता है कि सत्य की सत्ता तो कहीं और ही विद्यमान हो सकती है किसी दृष्टिकोण विशेष और पूर्व मतों के सापेक्ष और उनसे संलग्न। ये पूर्वमत होते हैं वक्ता के और इन पूर्व मतों के सत्य अथवा असत्य का आकलन हो नहीं सकता यदि हम अनियत प्रत्यावर्तन से कतराते रहें। ऐसा कोई मानदंड नहीं होता जो किसी आधार पर आश्रित होने के दायित्व से बच सके। संशयवादी सोचता है कि वह मानंदड की धारणा को अस्वीकार करके अथवा इसे सापेक्षात्मक बनाकर, जो कि

एक ही बात है, इस चक्र से बच सकता है। हठधर्मी, जिसका प्रतिनिधि अरस्तू है, सोचता है कि उसने एक परम मानदंड की खोज करली है और यह मानदंड है सत्य का साक्षी। किन्तु क्या यह मानंदड किसी भी प्रतिपादक औचित्य स्थापन से हटकर संशयवादियों के हाथ का खिलौना नहीं बन जाएगा ? अरस्तू के तर्क का सार है कि प्रत्येक शब्द का अर्थ होता है। किन्तु क्या यह पूर्वधारणा नहीं है ? यह कहना कि ऐसी पूर्वधारणा तो प्रत्येक कथन में निहित रहती है और इसे किसी विशिष्ट वक्ता के कथन में देखना उचित नहीं है, इसे निरपेक्षता प्रदान करना नहीं है। क्यों कि ऐसा करने के लिए यह बताना आवश्यक होगा कि यहां प्रत्येक उस कथन की बात हो रही है जो अर्थवान, तर्क सम्मत, बुद्धितत्व संपन्न, बोधगम्य या केवल सार्थक ही हो और यह इस बात को जानने का साधन हो कि ऐसे भी शब्द होते हैं जो निरर्थक होते हैं या ग्रीक भाषा में कहें तो ऐसे भी लोगोई (Logoi) होते हैं जो अ-लोगोई (a-logoi) होते हैं। कुछ स्थितियों में प्रमाण इतना महत्व नहीं रखता जितना कि व्यक्ति का निर्णय। ये स्थितियां है अतार्किक की तुलना में तार्किक शब्दों को, अर्थशब्द की तुलना में अर्थवान् शब्दों को, अरुचिपूर्ण संवाद की तुलना में रुचिपूर्ण संवाद को ही श्रेष्ठ बताना नहीं अपितु मिथकीय विचार की तुलना में बुद्धितत्व संपन्न विचार को श्रेष्ठ बताना भी है। जैसे ही अनुभवात्मक रुप से विरोधी बात की संभावना दृढ़ हो जाती है, जैसा कि सर्वविदित है, संशयवादी उसका मुक्त रुप से प्रयोग करने लगते हैं।

इस प्रकार पूर्व धारणाओं को अमान्य करने का संघर्ष अरस्तू के विपरीत पड़ जाता है और हठ धर्मिता, यदि हो तो, की विजय बड़ी महंगी पड़ जाती है क्योंकि ध्यानपूर्वक देखें तो संशयवाद का प्रत्याख्यान जिस अनिवार्य आवश्यकता पर आधारित माना जाता है और जिससे संशयवादी बच नहीं सकता, वास्तव में केवल तीन पूर्वधारणाओं की स्थिति में ही इस आवश्यकता पर आधारित होता है। इन तीनों पूर्व धारणाओं को पहले बिना प्रमाण ही सत्य माना जाता था :

1. प्रत्येक शब्द का एक अर्थ होता है अर्थात् एक मात्र अर्थ;
2. प्रत्येक अर्थ का सार होता है;
3. वस्तुओं के सार और शब्दों के अर्थ में संबंध होता है (1007 ए 75)

किन्तु क्या यह नहीं कहा जा सकता, और मनमानी के आरोप से बचने के लिए अरस्तू कहता भी है, कि इन तीनों सिद्धान्तों को दोनों वक्ता आरंभ से स्वीकार करके ही चलते हैं ?

मेरे शब्दों का एक एकान्तिक अर्थ होता है तभी तो सामने वाला व्यक्ति मेरी बात को समझता है। और शब्दों का यह एकांतिक अर्थ यदि ऐसे संसार से नहीं जुड़ा होता जिसमें हम दोनों वक्ता और श्रोता की भागीदारी है, तो यह एकांतिक अर्थ इतना स्पष्ट नहीं होता। "यदि शब्दों का कोई अर्थ ही नहीं होता तो लोगों के बीच किया गया विचारों का आदान-प्रदान नष्ट हो जाता, यहां तक कि व्यक्ति अपने आपसे भी बात नहीं कर पाता।" [9] किन्तु यदि हम सचमुच संवाद की स्थिति में हों तो संवाद की ये स्थितियां संभावना की विकल्पातीत स्थितियां हो जाएंगी। किन्तु संशयवादी पद्धतिमूलक कारणों से इस स्थिति को अस्वीकार कर देता है। [10] हम इसी निर्णय पर पहुंचते हैं कि यदि वक्ता संप्रेषण की संभावना में आस्था रखना चाहता है तो उसे इन पूर्व धारणाओं को स्वीकार करना ही पड़ेगा। किन्तु संशयवादी को इसी बात पर तो संशय है जब तक कि हठधर्मी इसे सिद्ध नहीं कर देता। इस प्रकार संशयवादी की शक्ति तो अक्षुण्ण बनी रहती है। ठीक उस समय जब हठधर्मी समझता है कि उसने संशयवादी को पूर्व धारणाएं मानने पर बाध्य कर दिया है, संशयवादी ही हठधर्मी को अपनी

पूर्व-धारणा मानने पर बाध्य कर देता है।

❋ ❋ ❋ ❋

इस विश्लेषण से यही निष्कर्ष निकलता है कि सत्य का कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं होता जो अपने आप पर अपना मानंदड प्रयुक्त कर सके और संशयवादियों का यह संकेत करना ठीक ही है कि सत्य का एक ही मानदंड उस सिद्धान्त में निहित है जो पहले हीं स्थिर हो चुका है और जिस पर सत्यापन की बात लागू नहीं होती। यह मानदंड प्रत्येक मानंदड से बाहर है। जो बात बिना मानंदड के प्रतिपादित होती है वह वही है जिसे मैंने "पूर्वधारणा" कहा है।

ऐसी ही पूर्वधारणाओं का एक दृष्टांत मैंने उस बात के संदर्भ में दिया है जिसे प्रायः अरस्तू की सत्य की तत्वमीमांसात्मक परिभाषा कहा जाता है : अर्थ और सारतत्व का समीकरण। यदि हम सत्य की तार्किक परिकल्पना, जिसका प्रयोग अरस्तू ने पहले वाली परिकल्पना की अपेक्षा अधिक किया है का परीक्षण करें तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे अर्थात् संवाद की संरचना (किसी विधेय को उद्देश्य प्रदान करना) और वस्तुओं की संरचना (सारतत्व का आनुषंगिक पदार्थ को वस्तुतः आत्मसात कर लेना) के बीच अनुरुपता है क्योंकि यह दर्शाना सरल होगा कि इस परिभाषा में स्थापना की विधेयात्मक संरचना और सारतत्व की तत्वमीमांसा दोनों ही पूर्व कल्पित हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस तार्किक परिभाषा में भी पहले वाली परिभाषा से कम तत्वमीमांसात्मक पूर्वधारणा नहीं है। सामान्यतया सत्य की किसी भी परिभाषा को "समीकरण" अथवा "अनुरुपता" के रुप में देखने पर एक तार्किक कठिनाई आती है और यह आपत्ति स्पिनोजा के समय से उठाई जाती रही है। किसी पूर्वपक्ष और तथ्य के बीच के आनुरुप्य को ही उस पूर्वपक्ष का लक्ष्य होना चाहिए और अनुरुपता वाले तथ्य के साथ जिसकी अनुरुपता स्वयं एक अन्य पूर्वपक्ष का लक्ष्य हो और यह क्रम अनंत रुप से चलता रहे।

इस सिद्धान्त के तार्किक दोष को तत्कालीन अतिसतर्क तर्कशास्त्रियों ने पहचान लिया और इस प्रकार वे वास्तविक प्रत्यक्षवादी चेतना से बच गए। डबॅल्यू ओ. क्वीनी "संदर्भ की अविश्लेष्यता"[11] की बात करता है, जे. हिन्टिका की दृष्टि में "सत्य की अनिर्वचनीयता" से बचने का एक मात्र उपाय यही है कि "अर्थविज्ञान"[12] की अक्षमता को मानलिया जाय जो कि पहले वाली बात से अधिक अच्छी नहीं है। किन्तु इन लेखकों को आशा है कि वे ऐसे प्रकल्पों की रचना करेंगे जो उस बात का स्थानीकरण करेंगे जिसे प्रदर्शित नहीं किया जा सकता, और इस प्रकार इस दोष को निरापद बनाकर उस पर विजय पा लेंगे। फिर भी क्वीनी प्रत्येक सिद्धान्त की "तत्वमीमांसात्मक प्रतिबद्धता" की अभिव्यक्ति के लिए जिस शब्द का प्रयोग करता है उससे कोई ऐसी परिकल्पना ध्वनित नहीं होती जिसे तार्किक रुप से निष्क्रिय कहा जा सके, अपितु एक अस्तित्व प्रतिपादक निर्णय ही ध्वनित होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अनकहा, यहां तक कि न सोचा हुआ तत्व जो कि हमारे प्रत्येक संवाद का अंश होता है और जिसकी मौन उपस्थिति प्रत्येक उस संवाद को हेत्वाभास के हवाले कर देती है जो अपने स्वयं के सत्य के मानदंडों पर खरे उतरने का दावा करता है, जो उन्हें पहले ही पूर्वधारित करता है, ऐसा यह तत्व उस तर्क का अंश कम होता है जो केवल प्रकट के क्षेत्र में ही सहज होता है और व्याख्या की उस तकनीक का अंश अधिक जिसका कार्य है घटकों में निहित वस्तुओं को, प्रकट

के पीछे अप्रकट को, पेड़ो में छिपे जंगल को खोजना। निस्संदेह अरस्तू ने उस रचना को "पेरी हरमेनियाज" (मीमांसा) नाम दिया जिसमें सत्य माने जा सकने वाले संवाद की संभावना की उन स्थितियों को मीमांसा का विषय बनाया है। निस्संदेह मीमांसा के क्षेत्र में तर्कशास्त्र की इस जकड़, जिसे इसकी तार्किक पूर्वधारणाओं को सुलझाने का श्रेय है, ने ही किसी भी अन्य पद्धति की तुलना में अरस्तूवादी हठधर्मिता को बौखलाया है और इसमें कुतर्क का भी पर्याप्त हाथ रहा।

किन्तु यह दर्शाया जा सकता है कि समूचा पाश्चात्य चिंतन ही ऐसी पूर्वधारणाओं पर आधारित है। पार्मेनिडीज का विचार था कि विचार के साथ नित्य (Being) की एकरुपता ही सत्य है। किन्तु नित्य यथार्थ अथवा मेरे कथन और यथार्थ के बीच स्थित एकरुपकता का अनिर्दिष्टि नाम ही नहीं है। होना (To be) धातु का निश्चय ही एक तथ्यानुकूल प्रकार्य[13] होता है किन्तु इसका एक निश्चित अर्थ भी है। यह अर्थ है स्थायित्व का, उपस्थिति का। अर्थात् स्थायित्व और उपस्थिति के माध्यम से आने वाला विचार ही सत्य है: सत्य में अनित्य (becoming) का कोई स्थान नहीं। यह एक ऐसा निर्णय है जिसे किसी ने आरोपित [14] नहीं किया है और पाश्चात्य तत्वमीमांसा में जिसका प्राधान्य रहा है जैसा तत्वमीमांसा के संदर्भ में हाइडेगर लगातार सिद्ध करता रहा है और उसका दृष्टिकोण जितना समझा जाता है उससे कहीं अधिक आलोचनात्मक रहा है।

दूसरी ओर सत्य की ऐसी धारणा जिसका इंद्रियगम्य सत्यापन हो सके और जो आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा का मुख्य लक्षण है, भी सत्य की पुरातन संकल्पना की भांति पूर्वधारणाओं से मुक्त नहीं है। यहां तक कि ये पूर्वधारणाएं पहले वाली पूर्वधारणाओं का ही विस्तार होती हैं। वे यथार्थ को ऐसा बना देती हैं कि उसे इससे अंगी-भूत अथवा अभिव्यक्त किया जा सके अर्थात् जिसे प्रस्तुत या प्रदर्शित किया जा सके। पूर्वधारणा कभी सीमित करती है, कभी यादृच्छिक होती है, कभी क्षीण करने वाली होती है, विज्ञान के क्षेत्र में निस्संदेह फलप्रद होती है किन्तु अन्य उच्च क्षेत्रों में कम से कम अधिक विस्तृत क्षेत्रों में, पंगु बना देती है।

आज अपनी परिभाषा और प्रकार्य में सत्य मानव हितों पर निर्भर है और इन हितों की श्रेष्ठता अथवा विस्तार का सत्यापन नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक दृष्टि से परिवर्तनशील इन हितों की व्याख्या की जानी चाहिए। यह कार्य है मीमांसा का जो निहित संदर्भों और अंगीभूत न किए जा सकने वाले क्षितिजों को निरन्तर तर्कयुक्ति और नीतिवाक्य का रुप देती रहती है। इस प्रकार मीमांसा स्वयं को प्राचीन संशयवाद की सुयोग्य उत्तराधिकारिणी सिद्ध करती है। निस्संदेह इससे भी ऊपर एक शक्ति है जिसे अभी हम बुद्धितत्व कह लेते हैं, जिसे इस बात का अधिकार है कि वह इन हितों की कम या अधिक वैधता का निश्चय करे। किन्तु यह शक्ति है कहां और कौन अपनी स्थिति में निर्विवाद रुप से इसका अधिकारी है ? यद्यपि इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर देना असंभव है, फिर भी इस दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास यह हो सकता है कि प्रत्येक संस्कृति और चिंतन-पद्धति बुद्धितत्व की अदालत में अपनी विलंबित पेशी की प्रतीक्षा करते हुए इस बात को जान लें कि वे पूर्वधारणाओं की श्रृंखला में गहरे उतरी हुई हैं (अठारहवीं शतीं में इन पूर्वधारणाओं को पूर्वाग्रह कहा जाता था)। प्रत्येक सभ्यता और पद्धति विशेष अपनी पूर्वधारणाओं का औचित्य सिद्ध करने में पूर्णतः सक्षम है और ऐसा करते हुए वे किसी दुष्चक्र में नहीं फंसती क्योंकि ये "पूर्वाग्रह" ही उनका आधार होते हैं। यूनान से प्रभावित पाश्चात्य दर्शन व्यापक होने का दावा करते हुए भी अन्य दर्शनों की ही भांति न तो इस अनूठेपन से बच सकता है न ही इस स्थिति के खतरे से। इस दर्शन को कम से कम इस बात का श्रेय तो है कि

इसने संशयवाद के रुप में अपने भीतर एक ऐसी धारणा को प्रश्रय दिया जो उसके बहुत अनुकूल न होते हुए भी उसे निरन्तर सचेत करती रहती है।

संदर्भ-सूची

1. Aristotle: Metaphysics, Book Gamma, 8,1012 b 8-11 पाठक इस तथ्य में कालविपर्यय न देखें कि अरस्तू को संशयवादियों के तर्क का उत्तर देते हुए दिखाया गया है। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से संशयवाद का उदय पायरोन (ईसा पूर्व तीसरी शती) के समय तक नहीं हुआ था, स्पष्ट है कि सोफिस्टों (ईसा पूर्व पाँचवी शती) माने जाने वाले तर्कों में यह प्रवृत्ति विस्तृत रुप से पाई जाती है। आगे के विवेचन में ऐसे तर्कों को 'संशवादी' नाम से अभिहित करेंगे।
2. वही, 1012 b 15 sg. M.F. Burnyeat ("Protogoras and self refutation in Later Greek Philosophy" The Philosophical Review, LXXXV 19 pp 44-69) इसमें दर्शाया गया है कि दोनों स्थापनाओं का प्रतिपाद्य बिलकुल समानान्तर नहीं है। इस स्थापना के विपरीत कि "प्रत्येक वस्तु असत्य है" यह स्थापना कि "प्रत्येक वस्तु सत्य है" सीधे रुप से नहीं अपितु द्वन्द्वात्मक रुप से ही आत्म प्रत्याख्यानात्मक है, क्योंकि इसमें किसी प्रतिवादी की आवश्यकता होती है।
3. देखिए, J.P.Dumont ; Le Scepticisme et le phenomene, Paris, 1972
4. इस तथ्य को अरस्तू से लेकर विटगेंस्टाइन तक सभी ने पहचाना कि प्रत्येक प्रस्थापना में उसका अपना सत्य निहित रहता है। देखिए अरस्तू : "सुकरात संगीतकार है का अर्थ है कि यह सत्य है" (Metaph, book Delta 7 a 33), and Wittgenstein : "किसी स्थापना से 'सत्य होने' का क्या अर्थ है ? 'P' है, सत्य = P (यही उत्तर है)" (Remarks on the Foundations of Mathematics, Appendix I,Section 5).
5. चूंकि संशयवाद कोई सिद्धान्त नहीं है, अतः इसे अज्ञेयतावाद से भ्रमित नहीं करना चाहिए। अज्ञेयतावाद तो आरंभ से ही यह मानकर चलता है कि परमसत्ता अज्ञेय है अथवा कि सत्य अभेद्य है।
6. Metaph; Gamma, 5, 1009 b 29
7. Plato: Theaetetaus, 189 e : Sophist, 263 e : Philebus 38 ce Aristotle, Metapha; Gamma, 4, 1006 b 8.
8. Aristotle, on interpretation (Peri Hermeneias), 3, 17 a 4-5

* अंग्रेज दार्शनिक ज़े.एल.ऑस्टिन ने "Other minds (1946) लेख में पहली बार "Performative" और "Illocutory" शब्दों को गढ़ा तथा विलियम जेम्स व्याख्यानमाला (1955) में इन पदों को प्रौढ़ता प्रदान की। ये व्याख्यान ऑस्टिन के मरणोपरान्त How to do things with words (1962) शीर्षक से छपे। ऑस्टिन के अनुसार Performative कथन "उपयुक्त" या "अनुपयुक्त" होते हैं सत्य या असत्य नहीं। Illocutory - कथन वह है जिसमें किसी बात को बल देकर कहा जाता है।

Pierree Aubenque इन दोनों शब्दों को समानक के रुप में प्रयुक्त कर रहे हैं, जबकि ऑस्टिन इन्हें समानक नहीं मानते। -अनुवादक

9. Metaph, Gamma, 4, 1006 b 8-9

10. यह Karl otto Apel के transcendental Pragmatism के विरुद्ध तर्क जान पड़ता है (देखिए Transformation der philosophie frankfort main,1969) या व्यवहारवाद बुद्धितत्व के सभी सिद्धांतों को "संप्रेषणात्मक स्थिति" से निःसृत मानता है। लोग अपने आपको सदैव इसी स्थिति में पाते हैं। वस्तुतः यदि एक व्यक्ति भी इस स्थिति को अस्वीकार कर दे तो संप्रेषण सार्वभौम नहीं रह जाएगा और इसी कारण परम आधार के रुप में भी कार्य नहीं कर सकेगा। संवाद एक आदर्श है : ऐसी स्थिति नहीं जिसे हर किसी पर थोपा जाता हो।

11. देखिए, W.O.Quine, Ontological Relativity and Other Essays, 1969

12. International Philosophy Institute की गोष्ठी में प्रस्तुत "The present Forms of Truth" (Palemro, Sept., 1985)

13. जिसे Charles H. Kahn इसका 'सत्यानुकूल' प्रयोग कहता है (The verb "be" in Ancient Greek, Dordrecht, 1973).

14. देखिए, Aubenque द्वारा संपादित Etudes Sar le poe'me de parmenide जिल्द II, पेरिस, 1986 में P. Abenque का लेख "syntaxe et Semantique de l'e-tre dans le poeme de parmenide".

****

कला का सत्य*

इवान्गेलौस ए. मूत्सोपोलस

1. प्लेटो की दृष्टि में कला और विरुपण

सोफिस्ट, 234 सी. में प्लेटो ने कला की तुलना कुतर्क से की है, अन्य शब्दों में, मिथ्यात्व और विरुपण से की है। ऐसी स्थिति में सत्य की बात करना दुस्साहस ही प्रतीत होगा। इसमें संदेह नहीं कि प्लेटो द्वारा प्रस्तुत इस तुलना में अतिशयोक्ति का पुट है क्योंकि अन्यत्र वह कलात्मक यथार्थ पर बल देता है। उसी सोफिस्ट में (299 सी) वह कहता है कि "कला के अभाव में जीवन असह्य हो जायगा। कला का यह महत्व और भी स्पष्ट हो जाता है जब हम देखते हैं कि 'अपॉलॅजी', 38 ए में ऐसी बात वह दर्शन के संबंध में भी कह चुका है। दर्शन को वह ऐसा कर्म मानता है जिसमें अपने अस्तित्व के प्रति सचेत मानव अपने जीवन का सतर्क परीक्षण करता है। अभिव्यक्ति की यह समानता प्लेटो की दृष्टि में चित्र के दो (भिन्न) कर्मों की प्रत्ययात्मक तथा मूल्यात्मक समानता का प्रमाण है। परन्तु यही प्लेटो, जैसा कि हमने अभी देखा, एक अन्य स्तर पर इनमें से एक गतिविधि की निस्संकोच रुप से भर्त्सना करता है। कम से कम बाह्य रुप से तो यही प्रतीत होता है। 'बाह्य रुप से' कहने का तात्पर्य यह है कि प्लेटो मूलतः कला मात्र का विरोधी नहीं है, अपितु अपने समकालीन कलाकारों की कला का विरोधी है। अपने समकालीन कलाकारों पर वह खुले रुप से इस परिकल्पना को अपनाने का आरोप लगाता है; कला प्रत्यक्ष अग्राह्य वस्तुओं, घटनाओं या स्थितियों का चित्रण होनी चाहिये और इसके लिये वे अपनी कला में शिल्प और कलाबाजी की सहायता लेते हैं जिसका समूचा उद्देश्य मनभाती बात से जनता को प्रसन्न करना है। अन्य शब्दों में, ये कलाकार सच्चाई की खोज के स्थान पर सर्जना में कौशल को अधिक महत्व देते हैं, जिसका लक्ष्य भी जनता को प्रसन्न करना ही होता है। प्लेटो की दृष्टि में मूल्यों के इस विपर्यय का अर्थ है कि कलाकार अपने आपको लोगों के उपभोग की वस्तु बना देता है।

---

* E. A. Moutsopoulos : Truth In Art; **Diogenes**, No. 132, Winter 1985, pp. 107-115

अनुवाद : सुशीला डोभाल,

यहां भी प्लेटो अपने समय की कला का अतिशयोक्तिपूर्ण मूल्यांकन करता है। वास्तव में प्लेटो के समय में इंद्रियगम्य वास्तविकता के अनुकरण की ओर कला का अत्यधिक झुकाव हो चुका था। उदाहरण के लिए नजर को धोखा देने वाली चित्रकृति [1] अत्यधिक वर्णनात्मक और यथार्थपरक संगीत[2]। यह इस बात का परिणाम था कि कलाकार नित ऐसे नए और सूक्ष्म तकनीकी साधनों की खोज में रहते थे जिससे वे लोगों तक अपना सुखद सम्प्रेषण पहुँचा सकें। इसलिये यह तो मानना ही पड़ेगा कि एक सीमा तक प्लेटो का दृष्टिकोण क्षम्य है क्योंकि ऐसा लगता है कि प्लेटो के समकालीन कलाकार कला के गंभीर सर्जनात्मक पक्ष की अवहेलना करके उसके चाटुकारितापूर्ण, लुभावने और आत्मतुष्ट पक्ष पर ही अधिक बल देने लगे थे। इसके फलस्वरुप अनुकरण की धारणा का अर्थ भी अपने मूल रुप से हटता गया और 'अभिव्यक्ति' का अर्थ अनुकरण के अर्थ के निकट होता गया।[3] अतः यह स्वाभाविक है कि हम प्लेटो के कला संबंधी आकलन को तत्कालीन कला पर आधारित आकलन मानें और साथ ही उन बातों पर भी विचार करें जिनके आधार पर प्लेटो ने अपना निर्णय दिया। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्लेटो के लिए यह प्रश्न कलागत सत्य की समस्या को उठाने का बहाना मात्र है। पर इस विषय के लिए यह प्रश्न अच्छी प्रस्तावना है। वस्तुतः प्लेटो पहला विचारक था जिसने एक ऐसी आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधि की आवश्यकता पर बल दिया जिस गतिविधि को वह अन्य संदर्भ में भर्त्सना योग्य समझता है। उसने यह भी दर्शाया कि कला का 'नकारात्मक' पक्ष तब उभरता है जब कलाकार (और दर्शक भी) सत्य और सत्याभास की धारणाओं तथा औचित्य और यथार्थता की धारणाओं में अंतर नहीं कर पाते।

चूंकि गोर्जियस (Gorgias) इस भ्रम को पहले ही सिद्धान्त एवं व्यवहार रुप में अपना चुका था (अन्य बातों के अलावा पार्थिनन [Parthinon] के निर्माण में भी)[4] अतः प्लेटो के लिए सिद्धान्त रुप से इसका खंडन करना सरल हो गया था और उसने अधिक प्राचीन, कठोर एवं कम जटिल वास्तुशिल्प के श्रेयस्कर रुपों को पुनः अपनाने पर बल दिया। वास्तुशिल्प के इन रुपों के पक्ष में यह बात तो कही जा सकती थी कि समय के थपेड़े झेलकर भी वे खड़े रह सके थे (Laws VII, 8-12 C)। इससे उनका सुदृढ़ता का गुण प्रकट होता था जो अपने आपमें इन कलारुपों के अंतर्निहित सत्य का प्रमाण था।

पर्याप्ति की सर्जना के रुप में सत्य

इसके पूर्व कि हम 'कलागत सत्य क्या है' की विवेचना करें, इस बात का निश्चय कर लें कि कलागत मांगों के संदर्भ में सत्य का क्या रुप होता है। यहां हम टॉमस एक्वाइनस की अवहेलना नहीं कर सकते जिसकी सत्य की परिभाषा अरस्तू की धारणा के अनुकूल है। एक्वाइनस के अनुसार सत्य "वस्तु और बुद्धि की पर्याप्तता है।" इस प्रकार यह इन दोनों के बीच एक सही और प्रामाणिक सम्बन्ध है, भले ही यह वस्तु की उस वास्तविकता से भिन्न हो जो चेतना के विषय के रुप में प्रस्तुत होती है। यही नहीं, यह उस वास्तविकता से भी भिन्न क्यों न हो जो इसे पहचानने वाले चित्त पर अपने आपको आरोपित करती है। पारपंरिक रुप से हम सत्य और असत्य के बीच अंतर करते हैं। (इस अंतर में अकाट्यता निहित मानी जाती है। इस संदर्भ में यह समझ लेना चाहिए कि असत्य के ज्ञानमीमांसात्मक मूल्य में कम से कम दो स्पष्ट भिन्न अर्थ निहित होते हैं। ये मूल्य हैं - एक तो त्रुटिपूर्ण, दूसरा झूठ, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि "सत्य" के मीमांसात्मक मूल्य में कम से कम

दो अन्य मूल्य निहित प्रतीत होते हैं - उचित का मूल्य और यथार्थ का मूल्य। अब यदि यह मानलें कि त्रुटिपूर्ण तो किसी ऐसे अनन्य आदर्श का व्यतिक्रम है जिसका निरुपण औचित्य में होता हो और झूठ को यथार्थ की ऐसी गमक मान लें जो सत्याभास की वशवर्ती होती है, तो सत्य के इस विस्तृत क्षेत्र के भीतर त्रुटिपूर्ण के मूल्य और यथार्थ के मूल्य में उतना ही अंतर होगा जितना अंतर कि असत्य के क्षेत्र में यथार्थ और झूठ के बीच होता है। इन धारणाओं को अपने मन में भली प्रकार बिठाने के लिए हम यूक्लिडीय ज्यॉमिति के स्तर पर एक आधार की कल्पना करलें जिसके किसी बिन्दु के समातंर एक लम्ब रेखा खिंची हुई है। जो विशेषता इस लम्ब रेखा में है वही विशेषता उचित के मूल्य की भी है।

उस बिन्दु तक खीचीं जाने वाली कोई भी अन्य सीधी रेखा आधार के संदर्भ में तिरछी ही होगी। आरम्भिक लम्ब रेखा की विशिष्टता की तुलना में अन्य सभी रेखाएं तिरछी ही होगीं और इन तिरछी रेखाओं में से प्रत्येक त्रुटिपूर्ण के मूल्य की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति होगी। इतना ही नहीं, आरंभिक लम्ब रेखा में की गई कोई भी वृद्धि पहले वाली लम्ब रेखा के नकार को दर्शाएगी। फलस्वरुप संवादी और निवादी स्वरों की भाति उचित के संदर्भ में मिथ्या की जो रचना की गई है उसे भी नकाराना पड़ेगा ताकि उस मूल्य के सत्याभास की रक्षा हो सके। अविकल दृष्टि से और अंगी अंग भाव से यथार्थ, परिकल्पनात्मक अथवा विसंगत के मूल्यों को भी अभिव्यक्त करने के लिए इस प्रक्रिया को बहुगुणित किया जा सकता है। किन्तु हमें मूल बात से अपना ध्यान नहीं हटाना चाहिए अर्थात् हमें औचित्य, त्रुटिपूर्ण और झूठ के मूल्यों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखना चाहिए। प्रतीत होता है कि वर्तमान उदाहरण के संदर्भ में सत्य का क्षेत्र इतना बढ़ जाता है कि उसमें उचित और यथार्थ के साथ ही त्रुटिपूर्ण का भी समावेश हो जाता है जबकि झूठ अपने मूल्य की विशिष्टता में अलग-अलग पड़ जाता है और वही उसके अस्तित्व का आधार भी होता है।[5] ज्ञानमीमांसात्मक श्रेणियों वाले संसार के इस पुनर्गठन में त्रुटिपूर्ण की श्रेणी की भी पुनर्स्थापना हो जाती है। यह त्रुटिपूर्ण अब नकारात्मक नहीं रह जाता क्योंकि इसे सकारात्मक गुण का स्थान प्राप्त हो जाता है और इसी कारण यह असह्य नहीं रह जाता। सत्य के क्षेत्र के भीतर कलात्मक गतिविधि वैध रुप से चलाई जा सकती है। सत्य के इस क्षेत्र के अन्तर्गत ही वह विस्तृत क्षेत्र आता है जिसकी परिभाषा कला करती है तथा जिसके भीतर कला समाहित भी रहती है। इस प्रकार कला एक ऐसे जगत् की अभिव्यक्ति की पर्याप्त, उचित और तर्क संगत संभावना बन जाती है जो वैज्ञानिक धारणा से अभिव्यक्त होने वाले जगत की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध है। प्रत्येक कलावस्तु जो पहले असत्य आंकी जाती है वास्तव में, और विचारों के उसी क्रम में सत्य की धारणा को प्रशस्त करने में सहायक होती है।

इसके बाद तो कला अपने प्रति दिखाई जाने वाली आंशिक उदारता से लाभान्वित होने लगती है। इस आंशिक उदारता की प्राप्ति कला को सत्य की उस धारणा के प्रशस्तिकरण के संदर्भ में होती है जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं। अब बात कला के सत्य को नकारने की नहीं है अपितु एक ऐसे सत्य को पहचानने की है जो सत्य की परम्परागत धारणा से नितांत भिन्न है। यदि विज्ञान के स्तर पर वेश्लार के लिए सत्य एक पर्याप्ति [6] की सर्जना है तो कला के स्तर पर अति श्रेष्ठ सर्जना जो तथ्यों की मुखापेक्षी नहीं होती तथा जो केवल अपने रुपात्मक और अभिव्यक्तिपरक संरचना के कारण ही [7] प्रमाणिक है। कला किसी यथार्थ की अनुकृति नहीं है अपितु यह स्वयं अपने यथार्थ और सत्य की सर्जना करती है।

3. साक्षी के रुप में कला

यदि कला अभिव्यक्ति है तो वह अमूर्त नहीं हो सकती, उसे किसी वस्तु और व्यक्ति की अभिव्यक्ति मानना होगा। कला एक तो अभिव्यक्ति है वैयक्तिक अंतर्भावना की, यह अभिव्यक्ति है ऐसे सामूहिक अचेतन की जो किसी भाव द्वारा व्यक्तिकृत हुआ हो। दूसरे कला एक ऐसी स्फुट वास्तविकता की अभिव्यक्ति है जो एक ऐसे अनुभव विशेष के रुप में अभिव्यक्त हो चुकी हो जो सर्जनात्मक आवेग की विशेषता के मूल में रहता है। ऐसी स्थिति में यदि कलाकृति का निरुपण किसी ऐसी घटना के रुप में किया जाय जो कलाकार की चेतना में मूर्त रुप ग्रहण करती हो, जो उसकी निगरानी में उचित रुप से संगठित और स्थापित होती हो तथा जो कलाकार की प्रकृति के अनुकूल हो तो कला स्वयं एक प्रौढ़ कृति के रुप में सामने आती है अर्थात् प्रक्रियाओं का वह समूह जो कलात्मक सृजन के प्रारम्भिक उद्रेक से आरंभ होकर अत्यंत विविध एवं जटिल स्थितियों से गुजरती हो। इसी प्रकार अपनी समग्रता में वे सब कृतियां जो मानवीय विरासत मानी जाती हैं उस साक्षी का मूल रुप ही हैं जो मानव अपनी स्थिति के सम्बन्ध में देता है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह उस साक्षी का मूर्त रुप है जो मानव अपनी प्रकृति और इतिहास के सम्बन्ध में देता है। यह इतिहास और कुछ नहीं अपितु जगत के साथ उसके संघर्षों की श्रृंखला ही है जो मानव अपनी स्वाधीनता सुरक्षित करने के लिए करता है। इसके बाद यही करना रह जाता है कि कलाकार अपने अनुभवों के सत्य को स्थापित करे और इस प्रकार अपने अनुभवों और अनुपम एवं अनन्य कला रुपों के बीच उचित संबंध स्थापित करें। चूंकि प्रत्यनुसरण की प्रक्रिया में वह अपनी चेतना में घटने वाली घटना को स्थिर कर देता है, प्रत्येक कलाकृति को ऐतिहासिक इतिवृत्ति कहा जा सकता है। इस दृष्टि से कलाकृति आन्तरिक रुप से एक ऐतिहासिक सत्य की स्थापना करती है। फिर भी एक ऐतिहासिक सत्य स्थापित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए जैसा ऐतिहासिक सत्य थ्यूसीडायडीज ने प्रस्तुत किया, या फिर जैसा कि मीश्ले ने किया था। मीश्ले ने इस सत्य को प्रस्तुत करने के लिए तथ्यों का सहारा लिया फिर उनका आकलन किया अथवा उनमें उन विचारों और टिप्पणियों का समावेश किया जो आतंरिक जगत् से आती हैं। यह जगत इतिहासकार तथा उसकी रचना को एक उदात्त आवेग से प्रस्तुत करता है। किन्तु रांके ने इस पद्धति की भर्त्सना की ओर आधुनिक इतिहासकार को ताकीद दी कि वह नियत तथ्यों का ही लेखा-जोखा रखे, यही बताए कि "जो घटित होता है वही वास्तविक है।" [8] अब यदि इतिवृत्त लेखन के अपने नियम होते हैं जो उसकी तटस्थ वृत्ति को निर्धारित करते हैं तो साक्षी के रुप में कला भी इससे की जाने वाली संघटनात्मक और रुपाकार संबंधी मांगों पर विचार करने के लिए बाध्य होती है क्योंकि इसकी प्रकृति संरचनात्मक है। रचनाओं में इसी कारण तर्कमूलक और ऐतिहासिक दोष पाए जाते हैं। इन रचनाओं का कार्य वास्तविक घटनाओं अथवा प्रमाणिक धारणाओं को प्रस्तुत करना होता है किन्तु अपनी विशिष्ट संरचना एवं रुप के कारण वे ऐसे नियमों से बंधी होती हैं जो प्राकृतिक नियमों से भिन्न होते हैं अथवा उन घटनाओं की ठीक, फोटोग्राफिक प्रतिकृति देने के विरुद्ध होते हैं जिनका चित्रण वहां होता है।

4. कलागत सत्य और कायरॉस (KAIROS)

यह रुपान्तरण कलात्मक गतिविधि [9] मात्र की प्रकृति का अनिवार्य परिणाम है साथ ही यह किसी भी कलाकृति का अनिवार्य परिणाम है।[10] कायरॉस की विचारणा जो यदा-कदा 'अभी नहीं' और

'कभी नहीं' की श्रेणियों के न्यूनतम और अधिकतम अंतर से आरंम्भ होती है, कला के स्तर पर वास्तविकता के पुनर्गठन और गणनान्तरण द्वारा और साथ ही संवेदनात्मक यथार्थ पर विशिष्ट रुप से कलागत सत्य के आरोपण द्वारा वास्तविकता में परिवर्तित हो जाती है। कलागत सत्य आकारिक अविकलता के सिद्धान्त की प्रयुक्ति के आदेश का सहायक है। इसी प्रकार अपनी अभिव्यक्ति में यह सर्जनात्मक चेतना की स्वतंत्रता के निरन्तर स्वीकार की आवश्यकता का साधन है और यह स्वयं अभिव्यक्ति के अपने विशिष्ट साधन में सुदीर्घ हो जाता है। उदाहरण के लिए जो बेबीलोनियन वास्तुशिल्प का उत्कृष्ट नमूना है, एक ऐसी विजय का स्मारक है जिसके विकास को यह अपने ढंग से घनीभूत करता है क्योंकि कलाकार ने एक विशिष्ट विपरीत परिप्रेक्ष्य, संस्तरात्मक परिप्रेक्ष्य का चुनाव किया है जिसके अनुसार सबसे महत्वपूर्ण व्यक्तियों को पृष्ठभूमि में रखते हुए भी अन्य लोगों से बड़ा दर्शाया गया है। इसी प्रक्रिया को हम द्विध्रुवी सिद्धान्त के संदर्भ में पुनः एक यूनानी कुट्टिम चित्र में देखते हैं जिसमें सिकंदर और देरयूस को आयसॉस के युद्ध में दिखाया गया है। पर्सियन्स में इस्कीलस हेरोडोटस के ऐतिहासिक विचरण का सहारा लेता है किन्तु विपरीत रुप में और घटनाक्रम को जर्जीज के महल में दिखाकर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को बदल देता है। इतिहास के जिस घटनाक्रम को हेरोडोटस यूनानी परिप्रेक्ष्य में रखता है इस्कीलस उसे पर्शियन परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता है। 'साक्र द नेपोलियां' के एक के बाद दूसरे संस्करणों में, जो क्रमशः लूव्र और वरसीली में रखे हुए हैं, चित्रकार डेविड ने नेपोलियन की माता को भी पृष्ठभूमि में चित्रित किया है जो कि उस समारोह में उपस्थित नहीं थी। शायद माता को चित्रित करने का आग्रह सम्राट की ओर से रहा हो। इसीलिए उसे ऐसा चित्रित किया गया कि वह आकृति द्रष्यालेख पर छा जाय किन्तु फिर भी गुमनामी के अंधेरे में खो जाय। यह कलाकार की इच्छा को दर्शाता है जो अपनी चित्रकृति का संयोजन इस प्रकार करता है कि उसमें एक इच्छित ऐतिहासिक वास्तविकता डालने पर बाध्य होने पर भी वह शुद्ध कलागत सत्य को उस पर हावी क़र सकता है। इस कलागत सत्य को सौंदर्य शास्त्रीय प्रमाणिकता का अनुमोदन प्राप्त है। अपने अधिक समकालीन पिकासो की 'गर्निका' को लीजिए। इसकी विषयवस्तु एक सच्ची ऐतिहासिक घटना है। इसे लेकर पिकासों एक ऐसा सश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करता है जिसमें मानव स्थिति की त्रासदी को चित्रित किया गया है। इस संश्लिष्ट चित्र में अत्यंत विविध वास्तविकताओं को एक सौंदर्य शास्त्रीय नियम के अन्तर्गत संगठित किया गया है। यह नियम कलाकार की प्रेरणा और सौंदर्यशास्त्रीय संरचना से, स्वयं प्रकृति से उद्भूत होता है। इलियड का रचयिता भी ट्रोजन युग की छोटी सी घटना को अपनी रचना का बहाना बनाता है। यह घटना है एकीलीज का क्रोध। यही क्रोध है उस समग्र सृष्टि की रचना के मूल में जो प्रबल रुप से व्यवस्थित है, प्रकटतः अवास्तविक है, किन्तु निर्विवाद रुप से सत्य है। मायरों के डिस्कोबोलस में भी कोई वास्तविक बात नहीं है। इसमें मानव-शरीर की सुडौलता का मानदंड चित्रित किया गया है जिसे प्राचीन मूर्तिशिल्प के इस चितेरे ने परिमार्जित किया है और जिसकी अविरत मुद्राओं में खिलाड़ी की मुद्राओं का सातत्य संश्लिष्ट हो जाता है। इसका घनीभूत सत्य उस समस्वरता में प्रकट होता है जिसे सौंदर्य शास्त्रीय रुप ने अलग कर दिया है। यह कायरॉस का दृष्टांत है, यह वह अप्रतिम क्षण है जिसके पहले कुछ नहीं और जिसके बाद और कुछ नहीं होता है। यह अल्पतम और अधिकतम एक ओर तो अनंतता का रुप धारण करते हैं दूसरी ओर भावी के गर्भ में शाश्वत का सार हो जाते हैं। इन सभी संघटनात्मक संश्लिष्ट रचनाओं में एक ही बात है। ये असबंद्ध आंकड़ों को एक सौंदर्य शास्त्रीय सिद्धान्त के हवाले

कर देती है। इसी सिलसिले में एर्किम्बोल्डो की चार चित्रकृतियों को लिया जा सकता है जिनमें यूनानी अर्धमानवों को प्रस्तुत किया गया है। इनमें अनुकृतियों के रुप में चारों ऋतुओं को चित्रित किया गया है जो उन्हें निरुपित करने वाले वानस्पतिक घटकों से भिन्न और अलग थलग सी है किन्तु उन्हें एक अप्रतिम और ऐकिक अवधारणा के अनुरुप पुनः इस प्रकार समूह बद्ध किया गया है और उनमें जो संरचना की गई है वह इस बात का प्रमाण है कि इसमें वास्तविकता का पुनर्गठन हुआ है। इस पुनर्गठन का आधार ऐसा सत्य है जो उस रुपान्तर से भिन्न है जिसे इसकी संरचना ने इसके ऊपर आरोपित किया है।

यही लक्षण पुनः हमें हायरोनिमस बॉश की संश्लिष्ट रचनाओं में दीख पड़ते हैं। उदाहरण के लिए 'द गार्डन ऑव डिलाइट्स' नाम के त्रिफलक में जो अब प्रादो में है। यहां वीभत्स अर्ध-देवीय तत्त्वों को घेरने लगता है और उसमें एक शाश्वत सत्य बड़ी कुशलता से स्थापित हुआ है। कविता से प्रेरित रचनाओं और शिल्पकलाओं तथा संगीत-कृतियों के बीच एक प्रकार का साम्य होता है। फॉरेस्ट मर्मर्स नाम का बाद्यबृंद रचना में, वाखनर के सीगफ्रीड में संगीतकार एक काल्पनिक सत्य की स्थापना करता है किन्तु चेतना के लिए यह काल्पनिक सत्य इसमें प्रतिबिंबित होने वाली नैसर्गिक वास्तविकता से कहीं अधिक सत्य है। इसका कारण यह है कि संगीतकार ने इस वास्तविकता के तत्त्वों को इस क्रम में रखा और उनका क्रमशः पुनर्गठन इस प्रकार किया कि एक शोधनकारी "कायरिक" पद्धति द्वारा सब विसंवादी स्वरों को निकाल दिया और केवल उन्हीं स्वरों को रहने दिया जिनकी प्रकृति उसके विषय-सार से मेल खाती थी। ये मर्मर-ध्वनियां प्रकृति में सुनाई पड़ने वाली ध्वनियों से कहीं अधिक सच्ची हैं क्योंकि ये परिष्कृत कर दी गई हैं तथा संगीतमय चेतना के सर्जनात्मक प्रयोजनों के अधिक निकट हैं। इसी प्रकार की बात समकालीन 'कॉक्रीट' संगीत के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है जिसका स्रोत शायद रिचर्ड स्ट्राउस के यथार्थवाद में है (डोमेस्टिक सिंफनी के "लवसीन" को याद कीजिए जो प्रकृति और श्रोताओं के अनुभवों से तद्रूप होने के कारण ही इतना सफल हुआ है तथा जिसमें व्यष्टि और समष्टि एक आदर्श सत्य में एकाकार हो जाते हैं), ऐसा संगीत जिसका विवरणात्मक पूर्वास्वाद प्लेटो न केवल गर्जन-तर्जन के खुरदरे अनुकरणों द्वारा देता है अपितु पानी पर पतवार चलने से उत्पन्न होने वाली सरसराहट के सूक्ष्म अनुकरण इत्यादि द्वारा भी देता है (रिपॅब्लिक, III, 396 a-3976)।

हाल ही के कलात्मक चित्रणें के अंतर्गत घन चित्र शैलीवादी और अतियथार्थवादी आते हैं जिनके दृष्टांत के रुप में एरिक साती की कृतियों को लिया जा सकता है। इस शती के आरंभ में उन्हें विकृति की उपज तथा कुतर्कवादियों की चित्त वृत्ति के समकक्ष बता कर उनकी भर्त्सना की गई थी किन्तु आज उन्हें वैध और प्रमाणिक यथार्थ की अभिव्यक्ति करने वाली कलाकृतियों के रुप में स्वीकार कर लिया गया है।

5. कला सत्य की अभिवृद्धि

तत्वमीमांसात्मक एवं ज्ञानमीमांसात्मक दोनों ही दृष्टियों से कोई भी कलाकृति क्रमशः सत्य और औचित्य की धुरियों के मिलन बिन्दु पर स्थित दिखाई पड़ती है इस अर्थ में कि यह स्थापित यथार्थ का ठीक क्षेत्र निर्धारित करती है। यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसका निर्माण कलाकृति आदर्श और परम यथार्थ में करती है। इस क्षेत्र का निर्माण होता है उस शोधन, संकोचन एवं पुनर्गठन द्वारा जिससे होकर

कलाकृति गुजरती है ताकि यह उस प्रायोजित अभीष्ट प्रकल्प को पर्याप्ति प्रदान करके स्वच्छ हो जाय जो "कायरिक गतिविधि" के स्तर पर इसके उपर आरोपित कर दिया गया था। शायद कला अनुकरण या प्रतिकृति होना चाहे, किन्तु ऐसा तभी संभव है जब उसे उसकी उस शक्ति से वंचित कर दिया जाय जिसके कारण उसके सृजन छल-कृतियां होने के स्थान पर आस्तित्विक रुप से प्रामाणिक कृतियाँ बन जाती हैं (उदाहरण के लिए नजर को धोखा देने वाली चित्रकृति)। एक सी बुनावट वाला संवेदनात्मक यथार्थ पुनर्गठन के लिए अपने आपको कलात्मक धरातल पर प्रस्तुत करता है। यह पुनर्गठन एक ठोस केन्द्र बिन्दु के अनुसार होता है और उसे निर्धारित करने वाला होता है कलाकार। कलाकार ही उस यथार्थ को "कायरॉस" का मूल्य प्रदान करता है। ऐसा करके कला एक साथ ही यथार्थ का मूल्याकंन और सुधार कर देती है। मूल्यांकन की इसी क्षमता के कारण प्रत्येक कला एक ऐसे सत्य की सर्जना हो जाती है जो एक साथ ही अवधारणा की दृष्टि से विशिष्ट भी है और सत्य की अभिवृद्धि की दृष्टि से समष्टिगत भी। यह सत्य जो उचित रुप से कला का अपना सत्य है, किन्तु साथ ही उन सब चेतनाओं का भी जो इसके अस्तित्व में भागीदार हो सके। इसी से प्रसूत होते हैं प्रायोजनों के प्रति कला की सर्जनात्मक अंतर्भावना की पर्याप्ति और इसका औचित्य।

****

संदर्भ-सूची

1. देखिए, P.M. Schuhl, Platon et 1'art de son temps (arts plastiques) Paris, Alcan, 1933, P.39. et. seg.
2. E. Moutsopoulos, La musique dans 1' oeuvre de platon. Paris, P.U.F., 1959. P.278 et.seg.
3. H.Koller,Die Mimesis in der Antike, Nachahmung, Darstellung, Ausdruck, Bern, A Francke, 1954, P 17 et seq.
4. P.A. Michelis, "Refinements in Architecture" "Journal of Aesthetics and Art Criticism, 14, 1955 PP. 19-43 especially P.26 et seq.
5. E. Moutsopoulos, "Vers Un elagrgissement du concept de verite : le presque - vrai", Annales de la faculte des Letters et Sciences Humanes 'd' Aix, 40 1966, PP. 189-196
6. G.Bachelard, L' Experience de l' espace dans la physique contemporaine, Paris, P.U.F, 1937 P. 94 : "Maximum reality comes at the end of knowledge, not at the beginning of knowledge."
7. E.Moutsopoulos, "Du 'faux' dans l' art" (II Congresso de Filosofia, Cordoba (Argentina), 1971, Actas, Vol I Buenos Aires, Editorial Sudamericana, PP. 335-338.

8. L.Von Ranke, Zur Kritik neuerer Geschichtsschreiber, Berlin - Leipzig, 1824, P.7 et seq.
9. E Moutsopoulos "Alternative Processes in Artistic Creation", Proceedings of the 8th International Wittgenstein Symposium (Kirchberg am Wechsel, 1983), Part I, Vienna Holder-Picher-Tempsky, 1984 p. 107; Idem "Le Modele de l'oeuvre d'art : idealisme ou pragmatisme ? La representation" .Actes du XVIIe Congres de philosophie de Langue Francaise Strasbourg, 1980, pp. 300-302, Idem "La Finition de l'oeuvre d'art : Contraintes et licences, A filosofia e as Ciencias "(IV Semana Internacional de Filosofia Curitiba). Rio de Janeiro, 1978, PP. 22-24.
10. E. Moutsopoulos, "Sur-le Caractere 'Kairique" de L' oeuvre d'art",Actes du V Congres International d' Esthetique. Amsterdam, 1964, pp. 116-118.

****

क्या ब्रहमाण्ड बदल रहा है ?*

ज्यॉ औदूजे

1. परिचय

आज हम जानते हैं कि ब्रह्माण्ड निरन्तर विकास, यहॉ तक कि क्रान्ति में है और यही हमारे लेख का विषय है। यह प्रेक्षण अभी पिछले दिनों ही संभव हो सका है। एडविन पी. हब्बल नामक खगोलविद् ने सन् 1930 से सन् 1950 के काल में सुदूर आकाश गंगा के जो प्रेक्षण किये थे उनकी प्रतीक्षा आवश्यक थी। यही वह खगोलविद् था जिसने यह सिद्ध किया था (दिखाया था) कि ब्रह्माण्ड अपनी संपूर्णता में वर्तमान में बृहमान है। आज हम यह भी जानते हैं कि हमारे निकटतम तारामण्डलों का, जैसे कि सप्तर्षियों का, रुप गत सहस्त्राब्दियों से बदल चुका है। प्राचीन खगोल विद् तथा उनके साथ ही शेष मनुष्य, सोचते थे कि ब्रह्माण्ड शाश्वत एवं अविकार्य है। आज के अधिकांश ज्योति-भौतिकी विदों (Astrophysicists) का विश्वास है कि (लगभग) दो सौ खरब वर्ष पूर्व ब्रह्माण्ड एक अपूर्व अवस्था में से गुजरा जिस समय यह अतीव ऊष्म एवं घना था। इस संघटन को उन्होंने मौलिक या आध्य-विस्फोट[1] का नाम दिया है। जैसा कि हम बाद में देखेंगे, कुछ लोगों का विश्वास है कि ब्रह्माण्ड एक बार फिर अतीव 'ऊष्मा' में से गुजरेगा जब भावी आकुंचन उत्पन्न होंगे। अन्य लोग ब्रह्माण्ड के लिये अधिकाधिक हिमीकृत एवं बन्ध्य भविष्य की पूर्वाशंका अभिव्यक्त करते हैं। इस गरिमामय अतीत एवं अनिश्चित भविष्य के अन्तराल में ब्रह्माण्ड प्रतिदिन अपना अधिकाधिक वैभव अनावृत कर रहा है। इसका भेद आधुनिक प्रेक्षण-विधियों (तकनीकों) तथा अन्तरिक्ष-विजय के शुभारम्भ को जाता है। इस लेख का उद्देश्य संक्षेप में यह सर्वेक्षण प्रस्तुत करना है कि आज के खगोलविद् किस प्रकार ब्रह्माण्ड को देखते हैं। ब्रह्माण्ड में मानव की स्थिति द्वारा उसका ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध अधिक अच्छे प्रकार से समझा जा सकता है।

सामान्यतः विज्ञान एवं तकनीकी तथा विशेषतः खगोल विज्ञान इस शताब्दी के उत्तरार्ध में बहुत

---

* Jean Audouge : Is the Universe Changing ? **Diogenes** No. 138 spning 1988, pp. 61-80

अनुवाद : प्रेम सागर

विकसित हुए हैं। हमारा आकाश एवं तद्वर्ती ज्ञान निरन्तर शोधित एवं समृद्ध हुआ है, इसका श्रेय उस मानव प्रज्ञा को जाता है जिसने अधिक संवेदी प्रकाश-दायक अथवा अधिक स्वायत्त अन्तरिक्ष-अवगाहकों का आविष्कार किया है। प्रेक्षणीय विश्व में यह "क्रान्ति" आधुनिक प्रेक्षण-विधियों (तकनीकों) में, अर्थात् प्रकाशीय एवं रेड़ियो-खगोलीय दोनों प्रकार के भू-उपकरणों में अद्भुत विकास एवं अन्तरिक्ष युग के आगमन से, संभव हुई है। खगोल विज्ञान जो संभवतः मावन विज्ञानों में सर्वाधिक पुरातन है (वह) भौतिकी में एवं विशेषतः अनन्त-सूक्ष्म की भौतिकी में महान विकास से अत्यधिक लाभान्वित हुआ है। जैसा कि हम देखेंगे, ब्रह्माण्ड महत्तम-संभव प्रयोगशाला है, ब्रह्माण्ड हमें वह भौतिक परिस्थितियां प्रस्तुत करता है जो हमें पृथ्वी पर नहीं प्राप्त हो सकतीं,(यथा) न्यूट्रोन सितारों (जो पल्सर नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं) जैसा चरम सघन पदार्थ, आद्य अवस्था का अत्यधिक ऊष्म पदार्थ तथा विस्फोटक पदार्थ जो अधिनव-तारक (Supernovae) जैसे विशेष ध्युतिमान तारकों के निर्माण में प्रयुक्त होता है (ब्रह्माण्ड रुप-प्रयोग शाला में प्राप्त होते है)।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्लांक के क्वाण्टम सिद्धान्त, बोहर के परमाणु सिद्धान्त एवं अन्ततः आइन्स्टीन के सापेक्षता-सिद्धान्त के प्रयोग द्वारा मनुष्य ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त से शासित, अनन्त-बृहत् की भौतिकी को अधिकृत करना प्रारम्भ किया। दूसरी ओर, अणु-भौतिकी की कृपा से हमने अणु की संरचना को समझना प्रारम्भ किया है जो कि न्यूक्लियस एवं इसके इर्द-गिर्द धूर्णायमान इलेक्ट्रोन से बना है। न्यूक्लियर-भौतिकी की कृपा से हम परमाणुओं की न्यूक्ली (नाभिकी) तथा उनके संभव तत्वान्तरण को समझने लगे हैं तथा अब आरम्भिक कणों की भौतिकी यह तथ्य रूप में मान लेती है कि विश्व इन कणों से भरपूर है जो उन पदार्थों का निर्माण करते हैं जिनसे हम बने हैं तथा अन्य विविध कणों से भी भरपूर है। यह अभी कुछ ही पहले की, अनन्त सूक्ष्म (अनन्त लघुतम) की 'समझ' ने संभव बनाया है कि हम ब्रह्माण्ड के इतिहास एवं इसकी संरचना को ग्रहण कर सकें, समझ सकें।

प्रेक्षण की नयी तकनीकों के प्रयोग से यह ब्रह्माण्ड-विचार एवं इसके सूक्ष्मतम अंशों का बोध यह संभव बनाता है कि हम ब्रह्माण्ड के विकास का अध्ययन कर सकें। अब हम ब्रह्माण्ड की आयु का, इसके प्रारम्भ से ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसका श्रेय तीन भिन्न तकनीकों को जाता है : ब्रह्माण्ड का विस्तारण (बृहंण), पुरातनतम तारे की आयु तथा यूरेनियम जैसे लम्बी आयु के रासायनिक तत्वों की आयु। इस ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अंश का - तारक मण्डलों के झुण्ड, हमारी अपनी आकाश गंगा, तारागण, तारागणों के झुण्ड का एवं सौर-मण्डल (मण्डलों) का इतिहास वर्णित कर सकते हैं।

ब्रह्माण्ड दो सौ खरब वर्ष पुराना है। इसकी उत्पत्ति के दस खरब वर्ष पश्चात् आकाश गंगायें बनीं थीं तथा सूर्य चालीस खरब साठ अरब वर्ष पुराना है। हम जानते हैं कि पचास खरब वर्षों में सूर्य विस्तीर्ण होकर पृथ्वी को हड़प लेगा तथा विकराल रक्तिम तारक बन जायेगा। उस बिन्दु पर हमारी पृथ्वी सूर्य में विलीन हो जायेगी। दस खरब वर्ष पश्चात् सूर्य अपनी बाह्य परतों को छोड़ देगा तथा एक देदीप्यमान ग्रह-मण्डल बन जायेगा, तब यह एक श्वेत खर्व-तारा (बोना तारा) बन जायेगा। तब यह अत्यधिक घनीभूत हो जायेगा क्योंकि इसका व्यासफल धरती के बराबर हो जायेगा। इसका सतह-तापमान पचास हजार (K) किलोवाट हो जायेगा। ज्यों-ज्यों यह श्वेत - खर्व (बौने) से श्याम-खर्व में परिणत होता जायेगा, त्यों-त्यों सूर्य पूर्णतः अश्ममय होता जायेगा तथा इर्द-गिर्द के पदार्थ पर गुरुत्वाकर्षण के अतिरिक्त अन्य कोई प्रभाव नहीं डाल सकेगा तथा न ही स्वयं को प्रकाशित कर

सकेगा।

हम अपने ब्रह्माण्ड के बारे में भी भविष्यवाणी कर सकते हैं। या तो ब्रह्माण्ड एक नयी ऊष्म स्थिति में से गुजरेगा, अर्थात् आकुंचन की स्थिति जो एक हजार खरब वर्ष तक की होगी, अथवा इसकी हिमनदीय स्थिति होगी। किसी भी स्थिति में हम आगामी दिनों का अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट अनुमान लगा सकते हैं चाहे वह अत्यधिक ऊष्म हो अथवा अत्यधिक हिममय। इस प्रकार अपने ब्रह्मांड के संदर्भ में हम भौतिकी-विज्ञानी अथवा इतिहास वेत्ता किसी का भी उत्तर अपना सकते हैं। इस लेख के प्रत्येक भाग में इन दोनों विभिन्न दृष्टिकोणों का परीक्षण होगा। हम इसे पुनः याद करके समापन करेंगे कि ब्रह्माण्ड चरम प्रयोगशाला है तथा हम तारों की धूलि हैं, मानवता समग्र ब्रह्माण्ड से अविच्छेध्य है, इस ब्रह्माण्ड को तभी अच्छी तरह से समझ सकते हैं यदि हम स्वयं को अच्छी तरह से जान लें।

2. ब्रह्माण्ड-प्रेक्षण

अनादिकाल से मनुष्य ब्रह्माण्ड का प्रेक्षण करता आ रहा है। बेबीलोनिया तथा अन्य पुरातन सभ्यताओं के लेखन में हमें इस मनोहर विषय के अवशेष मिलते हैं। ग्रहों की विशिष्ट प्रकृति को यूनानी, रोमन, मिश्र एवं चीन की सभ्यताओं ने स्वीकार किया है। परन्तु सत्रहवीं शती के प्रारम्भ तक मनुष्य ने केवल एक उपकरण का अवलम्बन छोड़ा था - वह था उनकी अपनी आंखें। वास्तव में, जैसाकि मेरे साथी आल्फ्रेड-विद्ल-मजार ने अपनी पुस्तक (Grand atlas d'astronomie, 1983) में कहा है कि मनुष्य के प्रेक्षण का सच्चा उपकरण उसका मस्तिष्क है। प्रेक्षण की सारी तकनीकें वे चाहे पृथ्वी पर हों, चाहे अन्तरिक्ष में, जिनकी हम चर्चा करने जा रहे हैं वे मनुष्य की आंखों एवं मस्तिष्क के मात्र विशेषण (सहायक) हैं।

पृथ्वी पर से प्रेक्षण हमारे वायु मण्डल के अस्तित्व द्वारा प्रभावित होता है जो कि जीवन विकास के लिए सौभाग्यवश ओजोन (आक्सीजन के त्रिपरमाण्वक अणु) की परतों के फलस्वरुप अल्ट्रावायलेट (पराबेंगनी) विकिरण को सोख लेता है (अवशोषण कर लेता है) जो कि समताप मण्डल में अन्तर्विद् होता है। भौतिक वायुमण्डल केवल गोचर (दृग्गोचर) विकिरण (जैसे, जिसकी लम्बाई 0.4 तथा 0.8 के बीच माइक्रोन जितनी अर्थात् एक मिलीमीटर के सहस्त्रांश जितनी होती है) एवं विकिरण स्तरों को (जिनकी लम्बाई एक मिलीमीटर से 100 मि. के मध्य होती है) जो पृथ्वी के परे से आती है, गुजरने देता है। कुछ इन्फ्रारैड (अवरक्त) विकिरण भी पृथ्वी से गोचर हैं। अल्ट्रावायलेट विकिरण एवं अधिक ऊर्जा सम्पन्न विकिरण (रेडियोग्राफी में प्रयुक्त एक्सरे) तथा गामा किरणें या अवरक्त (इन्फ्रारेड) किरणों की पूरी गति सीमा को परखने के लिए आवश्यक है कि हम वायुमण्डलीय अवशोषण के प्रभावों से बचने के लिए अन्तरिक्ष तकनीक का प्रयोग करें।

ज्योतिर्विज्ञान सम्बद्ध-प्रेक्षण, वास्तव में, गेलेलियो द्वारा (उसी के नाम से प्रसिद्ध) प्रथम दूरवीक्षण यंत्र के आविष्कार अर्थात् सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व प्रारम्भ नहीं हुए। तब कासेग्रेन एवं न्यूटन ने दूरवीक्षण यंत्रों का विकास किया। अठारवीं शताब्दी में ऐसे दूरवीक्षण यंत्रों को ही यह श्रेय जाता है कि हर्षेल जैसे ज्योतिर्विद् ने यूरेनस जैसे ग्रह की खोज में सफलता प्राप्त की। उन्नींसवी शताब्दी में दो आधारभूत उपकरण प्रकट हुए। प्रथम था फोटोग्राफिक प्लेट, जिसके दो लाभ हुए - ज्योतिर्बिम्ब का सुरक्षण तथा एक ही शाट (फोटो लेने) में आकाश के बहुत बड़े क्षेत्र को ग्रहण कर सकने की क्षमता।

दूसरा, आविष्कार परमाणु-भौतिकी के विकास से सम्बद्ध है। इससे स्पैक्टोग्राफ का आविष्कार हुआ जिसके द्वारा सामान्य विकिरण में प्रकाश का, किरणों के प्रेक्षण का चाहे वह उत्सर्जन में हो चाहे अवशोषण में (विभिन्न रसायनों द्वारा उत्सर्जित एवं अवशोषित) विश्लेषण संभव हुआ। फ्रान्होफर एवं किरचौफ के कार्य से सूर्य की सतह की बनावट का निश्चय करना संभव हुआ। यह विश्लेषण अतीव महत्वपूर्ण था क्योंकि इससे हेलियम की खोज हो सकी जो कि धरती की सतह से लगभग अनुपस्थित है, यद्यपि यह हाइड्रोजन के पश्चात् सर्वाधिक रासायनिक तत्व है। यह ब्रह्माण्ड की समग्र रासायनिक बनावट के प्रमुख लक्षणों को समझने का प्रतिनिधित्व करता है।

बीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति ने, ज्योतिर्विज्ञानिकों एवं ज्योति-भौतिकी वैज्ञानिकों को असाधारण लाभ पहुँचाया। उन्नीस सौ बीस में विशाल दूरवीक्षण यंत्रों का निर्माण हुआ। सन् 1935 के लगभग जान्स्की के प्रारम्भिक प्रयासों के फलस्वरुप रेडियो-ज्योतिर्विज्ञान अस्तित्व में आया। विशेषतः द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् जिसने राडारों के विकास को गति दी, यही विशाल रेडियो-दूरवीक्षण-यंत्रों के अग्रगामी थे। अन्तरिक्ष में प्रविष्ट (अंतरिक्ष तक पहुँच) इस शताब्दी के प्रारम्भ में हुई जब आस्ट्रिया के बी. नेस ने सन् 1913 में विद्युदर्शियों (elctroscopes) समेत गुब्बारे में उड़ान भरी तथा कॉस्मिक विकिरण की पार्थिवातिरिक्त प्रकृति की खोज की। गुब्बारों (बेलूनों) के पश्चात् राकेटों का विकास हुआ जो अल्ट्रावायलेट (पराबेंगनी) विकिरण के प्रति संवेनशील साधनों को लिये हुए थे। परन्तु प्रारम्भिक कृत्रिम उपग्रहों ने ही नये अन्तरिक्ष-अनुसंधान युग का मार्ग प्रशस्त किया। अक्टूबर, 1957 में स्पूतनिक के पश्चात् अनेकों अमरीकी, रुसी, यूरोपीय, जापानी, भारतीय एवं चीनी उपग्रहों ने यह काम किया। आज हम अपोलो मिशनों की सफलता पर आश्चर्यान्वित हैं, जिसने मनुष्य को चन्द्रमा पर चलने दिया। वोयेजर I तथा II ने बृहस्पति के विभिन्न वलयों एवं उपग्रहों को, शनि एवं इसके सहस्त्रों वलयों तथा अब यूरेनस को, जो दूरवीक्षण यन्त्र द्वारा भी कठिनाई से मात्र दृश्य है, देखा जाना संभव बनाया। लगभग दो वर्षों में एक प्रकाशीय दूरवीक्षण-यंत्र पृथ्वी के गिर्द कक्षा में स्थापित किया जायेगा। यह पृथ्वी से पाँच सौ किलोमीटर के औसत उन्नतांश पर होगा जिससे यह भू-वायुमण्डल द्वारा खड़ी की गई बाधाओं का पार पा सके। यह आज के विशालतम दूरवीक्षण यंत्र द्वारा वीक्षण-सीमाओं पर स्थित तारों की, शतगुणा कम दीप्ति वाले तारों के वीक्षण की क्षमता में वृद्धि करेगा। वैज्ञानिकों, इंजीनियरों एवं तकनीशियनों की पटुता (दक्षता) इतनी महान है कि कुछ यूरोप एवं कुछ अमरीका में स्थापित रेड़ियो-दूरवीक्षण यंत्र एक ही समय एक ही स्त्रोत का अत्यन्त न्यून कोण से वीक्षण कर सकते हैं। (यह चाक्षुष ज्योतिर्विज्ञान से एक सौ से एक सहस्त्र गुणा अधिक अच्छा परिणाम प्राप्त कर सकता है।) इस तकनीक को अत्यधिक दीर्घाधार व्यक्तिकरणमापन कहा जाता है।

डिटेक्टरों (खोजी, परिचायक) के सम्बन्ध में, ज्योतिर्वैज्ञानिकों अब फोटोग्राफी के प्राचीन उपायों अथवा प्रिज्म (बिलौर) या नैटवर्क स्पैक्ट्रोग्राफी (वर्णक्रम लेखन) तक सीमित नहीं है। दूरदर्शन कैमरों से प्राप्त किये गये यन्त्रों द्वारा प्रकाशकणों (फोटोनों) को एक-एक करके गिनना संभव हो गया है। इसके अतिरिक्त बिम्बों (चित्रों) के संचयन एवं प्रकरण की अपेक्षाओं का यह परिणाम हुआ कि उसने इसे ज्योतिर्विज्ञान के लगभग तत्काल व्यावहारिक उपयोग के योग्य बना लिया। एक्स-रे-चित्रण में प्रयुक्त परिलोकन-यंत्र रेडियोज्योतिर्विज्ञान में प्राप्त किया गया यंत्र है। आगामी कल के दूरदर्शन प्रापक, वेधशालाओं एवं प्रयोगशालाओं में विकसित आदिरुपों में पहले ही विद्यमान हैं।

संक्षेप में कहें तो अब ज्योति-भौतिकी वैज्ञानिक अधिकाधिक विशाल, अधिकाधिक परिशुद्ध (सूक्ष्म) तथा अधिकाधिक संवेदशील प्रापकों द्वारा भी भूमि-अतिरिक्त विद्युत चुम्बकीय विकिरण को चाहे वह किसी भी आवृत्ति (बारंबारता) पर (विद्युत तरंग पर) हो, ग्रहण कर सकते हैं।

प्रत्येक बारंबारता, प्रत्येक तरंग दीर्घा,ब्रह्माण्ड के बारे में अद्वितीय सूचना प्रदान करती है। गोचर (दृश्य) क्षेत्र में ग्रहों, तारों, तारकमण्डलों को देखना एवं उनके रासायनिक संयोजनों (बनावट) का निश्चयन सम्भव है क्योंकि विभिन्न रासायनिक तत्वों द्वारा अवशोषित या उत्सर्जित विकिरण को तरंग-दीर्घा के अधिकार-क्षेत्र में पाया जा सकता है। तारों के सन्दर्भ में, हम जानते हैं कि पृथ्वी से इनका कोण-वियोजन नहीं प्राप्त हो सकता। एन्तोइने लेबरी नामक फ्रांसीसी ज्योतिर्वैज्ञानिक ने स्थानों का व्यतिकरणमापक बड़ा ही दक्ष उपाय आविष्कृत किया है जो कि तारों का सीधे व्यासनिर्धारण की दिशा में प्रथम पग है।

ऊष्म या ऊर्जस्वी पदार्थ लघु-तंरग-दीर्घता का (पराबेंगनी, एक्सरेज तथा गामारेज का) उत्सर्जन करते हैं। पराबेंगनी (अल्ट्रावायलेट) विकिरण ऊष्म तारों का तथा आयनीकृत अन्तर-तारकीय पर्यावरण का लक्षण है। एक्सरेज का उत्सर्जन उस अत्यधिक ऊष्म गैस से, जो कि आकाश गंगाओं के मण्डलों को, विस्फोटक तारों (नोवा एवं सुपरनोवा) को भरे रहता है तथा श्याम-विवर जैसे बृहत्काय तारों द्वारा आकृष्ट किये जाने से पूर्व पदार्थ से उत्सर्जित होता है। गामा-किरणों का विवरण, कॉस्मिक विकिरण एवं अन्तर तारक पर्यावरण की एवं सुपरनोवा की परस्पर क्रिया से आता है।

दीर्घ तरंग-दैर्ध्य का विकिरण, (इन्फ्रारेड-अवरक्त,मिलीमेट्रिक तथा रेडियो तरंग विकिरण) स्पष्ट ही शीत-पदार्थों से अथवा न्यून-ऊर्जास्तर के पदार्थों से होता हैं। शीत तारों एवं अन्तर-तारकीय धूलि का गुण अवरक्त विकिरण है। रेडियो ज्योतिर्विज्ञान 21cm परमाणविक उदजन रेखा से अधिशासित (प्रभावित) है जिससे अन्तर तारक पर्यावरण का मापन (चित्रण-अंकन) संभव है। अधिकांश अन्तरतारक अणु मिलीमेट्रिक एवं सेन्टीमेट्रिक तरंगदीर्घता के क्षेत्र में पाये गये थे। आकाश गंगा में एवं क्वासर भी पल्सरों के समान (जो कि न्यूट्रोन तारक कहलाने वाले गहन तारों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं) शक्तिशाली रेडियो-प्रसारक हैं।

ज्योति-भौतिकी-वैज्ञानिकों के लिए ज्योतिर्मय अथवा अधिक साधारण रुप में कहें तो विद्युत-चुम्बकीय विकिरण ही सूचना का एक मात्र प्राप्त स्त्रोत नहीं है। हमने पहले ही अत्यधिक उच्च ऊर्जा के परमाणु-केन्द्रों से बने कॉस्मिक विकिरण की चर्चा की है। इस जाति के (टाइप के) कुछ कण इतने ऊर्जस्वी हैं कि वे वायुमण्डल में माध्यमिक कणों के वर्षण को जन्म दे देते हैं। इन कॉस्मिक विकिरणों के संयोजन को मापने के लिए ज्योति-भौतिकी वैज्ञानिक ठीक न्यूक्लिअर भौतिकी में प्रयुक्त डिटेक्टरों जैसे डिटेक्टरों (परिचायकों) का निर्माण करते हैं तथा तब उन्हें उपग्रहों में स्थापित कर देते हैं। भौतिकी वैज्ञानिक कणों की अन्य अभिव्यक्तियों अथवा ब्रह्माण्ड में ऊर्जा को खोजने का प्रयास भी करते हैं - जैसे सूर्य से प्रवाहित होने वाले न्यूट्रिनोज अथवा विशेष गहन तारों द्वारा उत्सर्जित गुरुत्वाकर्षी तरंगे। न्यूट्रिनोज संहति-रहित या अत्यधिक न्यून-संहति के इलेक्ट्रोन-परिवार के कण हैं जो प्रोटोन की न्यूट्रोन में रुपान्तरित होने की प्रक्रिया के मध्य में उत्सर्जित होते हैं (और एण्टीन्यूट्रोन के सन्दर्भ में इससे ठीक विपरीत होता है)। उदजन के हेलियम में संगलन के समय, जो कि सूर्य से ऊर्जा का मुख्य स्त्रोत है, यह अपनी ऊर्जा को फोटोन के रुप में नहीं अपितु न्यूट्रिनोज के रुप में भी

निष्कासित करता है। समस्या यह है कि ये न्यूट्रिनोज सामान्य पदार्थों के प्रति कदाचित् ही तथा कठिनाई से प्रतिक्रियाशील होते हैं। इसी कारण, इन कणों को खोजने के लिए, अमरीकी साथियों ने चार सौ सहस्त्र लिटर कार्बन टेट्राक्लोराइड, का एक परित्यक्त उत्तरी डकोटा की, सोने की खान में, भण्डारन-कुण्ड स्थापित किया है तथा एक यूरोपीय संगठन की योजना है कि ग्रान सासो सुरंग में, इन्हीं कणों की खोज के लिए तीस टन गेलियम का भण्डारन करे (यह विश्वभर में तीन साल के उत्पादन के बराबर है) सौर न्यूट्रिनोज की खोज इसलिए महत्वपूर्ण है कि यह हमें सूर्य की भीतरी संरचना को उपलब्ध करवाती है जो कि सीधे प्रेक्षण द्वारा गम्य नहीं है। यह स्वयं न्यूट्रिनोज के बारे में भी हमारे ज्ञान को शोधित कर देगी। न्यूट्रिनोज ब्रह्माण्ड में उतने ही असंख्य हैं जितने फोटोन। इसी प्रकार विश्व में अनेकों (वैज्ञानिक) दल ऐसे उपकरण निर्माण में प्रयत्नशील हैं जो गुरुत्वाकर्षण सम्बन्धी तरंगों के उत्सर्जन के प्रति संवेदनशील हों। न्यूट्रोन तारकों की दोहरी व्यवस्था के प्रेक्षण से इन (तरंगों) का अस्तित्व प्रमाणित हो चुका है।

प्रोटोन की जीवन-अवधि सम्बन्धी अनुसन्धान, जो कि प्रकृति-शक्तियों के एकीकरण का सम्भवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिणाम है अथवा C.E.R.N. प्रयोग के माध्यम से W एवं Z बोसोन की खोज जैसे अन्य प्रयोगों की ब्रह्माण्ड की संरचना एवं विकास के संदर्भ में प्रमुख विवक्षायें हैं। ऊल-जलूल कथन की बिना इच्छा के (मुझे लगता है कि) सम्भवतः खदानों में अथवा पर्वतों में दबी प्रयोगशालाओं में सूक्ष्मतम कणों (दुर्गाह्य कणों) की खोज से ही हम अन्ततः ब्रह्माण्ड को उपयुक्त रुप में जान सकने में सक्षम हो सकेंगे।

3. भौतिकीविद् का ब्रह्माण्ड : अनन्तरुप में बृहत्तम तथा अनन्त रुप में लघुतम में (परस्पर) सम्बन्ध

आरम्भिक कणों की ब्रह्माण्ड के पूर्ण विकास में मूल भूमिका, उस पर भौतिकी के नियमों की शक्ति का परिणाम है। भौतिकी विज्ञान में अभी अभी हुई प्रगति से क्वान्टम यान्त्रिकी से निसृत अनन्त रुप में लघुतम भौतिकी, दूसरे शब्दों में आणविक भौतिकी, न्यूक्लियर भौतिकी तथा कण-भौतिकी तीनों, एवं अनन्त रुप में बृहतम की भौतिकी साधारण सापेक्षता (दोनों ही) संपूर्णत में ब्रह्माण्ड की संरचना में तत्काल लागू होते हैं।

ब्रह्माण्ड पर भौतिकी की क्रिया की चार मूल अन्योन्य क्रियाएं गोचर अभिव्यक्तियां हैं। इनमें से दो दूरगामी परस्पर क्रियाएं हैं: गुरुत्वाकर्षण, जिसे पहले न्यूटन के नियमों में वर्णित किया जाता था और अब आईन्स्टीन की सापेक्षता से, यह ऐसे सन्दर्भों में होता है जहां गतियों का उन्नयन होता है तथा पिण्ड बहुत स्थूल एवं कोलम्ब के नियम (Laws of Coulomb) में वर्णित विद्युत चुम्बकीय होते हैं। परस्पर क्रियाशील पिण्ड एक दूसरे से बहुत दूर (भी) हो सकते हैं जिस प्रकार सूर्यमण्डल की परिक्रमा करते ग्रह। यह दो भौतिक प्रभाव हैं जिनके हम सर्वाधिक अभ्यस्त हैं तथा जो हमारे जीवन को प्रभावित करते हैं (प्रकाश, संचार आदि) अनन्त रुप में लघुओं का (परमाणु, न्यूक्लीयस, प्रोटोन या न्यूट्रोन अथवा क्वार्क जैसे सर्वाधिक आदिम कणों का) विश्व भी इस परस्पर क्रिया से नहीं बच पाता। आदिम कणों में विद्युत-आवेश एवं स्थूलता होती है। परन्तु यह दो अन्य शक्तियों पर आधारित है जिनकी पहुँच (या सीमान्तर) बहुत सीमित होती है (प्रबल) शक्ति के लिए 10^{-13}cm तथा क्षीण शक्ति के लिए 10^{-16} cm) प्रबल शक्ति यह इसलिए कहलाती है क्योंकि चारों पर इसकी

परस्पर-क्रिया सर्वाधिक शक्ति शाली होती है। यह क्षीण शक्ति से एक सहस्त्रगुणा अधिक शक्तिशाली होती है तथा गुरुत्वाकर्षण से 10^{39} गुणा शक्तिशाली होती है। क्षीण शक्ति हाड्रोन नामक कणों में ही कार्यरत हो सकती है जो न्यूक्लोन (प्रोटोन एवं न्यूट्रोन) तथा मैसोन होते हैं। प्रबल शक्ति का आदर्श निदर्शन (उदाहरण) थर्मोन्यूक्लिअर प्रतिक्रिया है जैसे प्रोटोन + कार्बन 12 से नाइट्रोजन 13 की उपलब्धि होती है अथवा न्यूट्रोन के अवशोषण की प्रतिक्रिया जैसे कार्बन 13 + न्यूट्रोन से कार्बन 14 की प्राप्ति होती है। क्षीण शक्ति लेप्टोन कणों की अन्तर्गस्तता आवश्यक है, इन्हें इलेक्ट्रोन म्यूओन एवं न्यूट्रिनोज कहा जाता है। दुर्बल परस्पर क्रिया का आदर्श उदाहरण है न्यूट्रोन का प्रोट्रोन + इलेक्ट्रोन + एण्टीन्यूट्रीनो में विघटन - यह ऐसी प्रक्रिया है जिसमें सामान्यतः दस मिनट लगते हैं। दुर्बल शक्ति कहीं अधिक संभाव्य है इसमें विशेष रुप में यह प्रकट होता है कि सौर न्यूट्रीनोज की खोज कर सकना क्यों कठिन है।

ये चार शक्तियां तरगों को प्रसारित करती हैं - विद्युत चुम्बकीयता के लिए विद्युत किरणों या विद्युत चुम्बकीय विकिरण (विशेष रुप से सूक्ष्म), गुरुत्वाकर्षण के लिए गुरुत्वाकर्षी तरंगे, तथा दो माइक्रोस्क्रोपिक (सूक्ष्मदर्शी) न्यूक्लीयर शक्तियों के लिए गामा विकिरण। यह विशिष्ट कणों के आदान-प्रत्यादान से उत्पन्न होते हैं जो आदान-प्रत्यादान बोसोन कहलाते हैं तथा अनिश्चित संख्या में विद्यमान रहते हैं। बोसोन नाम इस तथ्य को निर्दर्शित करता है कि ये कण बोस-आइन्स्टीन के सांख्यिकी नियमों का पालन करते हैं। उसी स्थान पर उसी ऊर्जा की अवस्था में अनिश्चित संख्यक (बोसोन) रह सकते हैं। विद्युत चुम्बकीय बोसोन फोटोन होते हैं। गुरुत्वाकर्षी बोसोन ग्रेवीटोन हैं जिनका अस्तित्व अभी प्रयोगों से सिद्ध नहीं हुआ है। क्षीण परस्पर क्रिया से W एवं Z कण (उत्पन्न होते) हैं जिन्हें भौतिकी में 1984 के नोबेल पुरस्कार विजेता रुब्बिया एवं वान देर मीर्ख एवं उनके साथियों ने सन् 1983 में C.E.R.N. खोजा था। प्रबल परस्पर क्रिया के सम्बन्ध में, अभी कुछ समय पूर्व तक यह समझा जाता था कि यह मैसोन के आदान-प्रदान से उत्पन्न होती है। अब यह समझा जाता है प्रबल परस्पर क्रिया की वेक्टर (सदिश) भूमिका ग्लूओन पर निर्भर है जो क्वार्क को 'आवृत' करते हैं तथा उनके एक साथ रहने के कारण हैं। कण-भौतिकी में कहा जाता है कि ग्लूओन क्वार्कों को 'परिरुद्ध' किये रहते हैं। क्वार्क कण है जिनमें $\pm$ 1/3 अथवा $\pm$ 2/3 का (विद्युत) आवेश होता है तथा जो उतनी ही संख्या में विद्यमान होते हैं जितनी संख्या में लेप्टोन (इलेक्ट्रोन, म्यूओन, तओ तथा उनके तीन न्यूट्रिनोज) अर्थात् छह। एक प्रोटोन अथवा न्यूट्रोन तीन क्वार्कें से बनता है जबकि एक मोसोन का उत्पन्न करने में दो क्वार्कों की आवश्यकता होती है। क्वार्क, भ्रान्त चित्त, भौतिकीविदों की काल्पनिक उड़ान मात्र से उत्पन्न नहीं है। इनमें से पांच की प्रयोगों द्वारा खोज हो चुकी है, इनमें से प्रथम की खोज अमरीका की स्टैनफोर्ड यूनीवर्सिटी के रेखीय त्वरक में हुई है।

ये चार शक्तियां ब्रह्माण्ड में सारी ज्ञात भौतिकी की परस्पर क्रियाओं को समझने में पर्याप्त हैं। सूर्य अपनी ऊर्जा प्रबल (Strong) न्यूक्लीयर परस्पर-क्रियाओं से ग्रहण करता है (न्यूट्रिनोज की क्षीण (Weak) परस्पर-क्रियाएं सूर्य की ऊर्जा क्षय का प्रतिनिधित्व करती हैं), जीवन, रासायनिक एवं जैविकीय प्रतिक्रियाओं का अनुक्रमण है तथा यह प्रथमतः विद्युत चुम्बकीय एवं द्वितीयतः गुरुत्वाकर्षण से शासित है।

आधुनिक भौतिकी की महत्तम खोजों में से एक यह है। ये चारों शक्तियां जो प्रथम दृष्टि में अत्यधिक असमान लगती हैं, प्रत्यक्षतः एक उसी शक्ति का परिणाम या शाखायें हैं जिसमें ये चारों

संयोजित की जा सकती हैं बशर्ते कि उपलब्ध ऊर्जा पर्याप्त हो। परस्पर-क्रियाओं के संयोजन का यह साहसिक कर्म ग्लेशो, वीनवर्ग एवं सेलम के सिद्धान्त से प्रारम्भ हुआ। उन्होंने कल्पना की कि यदि प्रत्येक कण की औसत ऊर्जा 100 GeV अथवा प्रोटोन की स्थूलता के शतगुणा या 10^{15} K तापमान के अनुरुप हो तो विद्युत चुम्बकीय शक्ति एवं क्षीण शक्ति संयुक्त हो सकती है। W एवं Z की खोज ने इन शक्तियों के संयोजन का प्रायोगिक उदाहरण प्रस्तुत किया।

भौतिक-वैज्ञानिकों ने उस कण-भौतिकी को जो प्रबल शक्तियों एवं क्षीण विद्युत शक्तियों को संयोजित कर सकती है (ग्रेण्ड यूनीफिकेशन थ्योरी) महान संयोजन सिद्धान्त कहा है। इन सिद्धान्तों में इन तीन शक्तियों के संयोजन के समय आदेय-प्रदेय कणों की स्थूलता कम से कम 10^{15}GeV होनी चाहिए। यह प्रोटोन से दस लाख दस अरब गुणा अधिक स्थूल, 10^{28} K तापमान के अनुरुप होना चाहिए। कण-भौतिकी-वैज्ञानिक इन्हें एक्स एवं वाई कण कहते हैं। इनका अस्तित्व यह द्योतित करता है कि प्रोटोन, जो कि अगोचर (दृश्य) जगत के निर्माण की (विशेषतः हमारी) आधारशिला है, लगभग 10^{31} वर्षों की सीमित जीवन-अवधि रखता है। इसे अपनी मापन-विधि (पैमाने) के अनुसार ढालें तो सत्तर किलोग्राम भार के व्यक्ति की अनुमानित पचहतर वर्ष की आयु अवधि में दस में से तीन चान्स (अवसर) हैं कि उसका एक प्रोटोन विघटित हो जायेगा। (हमारे सौभाग्यवश) इस अत्यन्त विरल घटना का, भौतिकी-वैज्ञानिकों की लगभग दस टोलियां, सारे विश्व में, विशाल डिटेक्टरों के प्रयोग द्वारा जो कि धरती के भीतर सहस्त्रों मीटर नीचे जलपूरित बृहत घन-क्षेत्र है, सक्रिय अनुसन्धान कर रही हैं। इन अनुभवों का परिणाम, कण-भौतिकी वैज्ञानिकों एवं जैसाकि हम देखेंगे, ज्योति-भौतिकी-वैज्ञानिकों के लिए महत्वपूर्ण है। जितना कि संयुक्त सिद्धान्तों वाले कहते हैं, आज प्रोटोन उससे कहीं अधिक, विघटन का प्रतिरोधी प्रतीत होता है। अतएव (तथा अन्य कई कारणों से इस लेख की परिधि से परे है) भौतिकी-विज्ञानियों ने, जिनके पास कल्पना की कभी कमी नहीं रही, 'अति सम-मिति' सिद्धान्तों की आविष्कृति की, जो न केवल दो अन्वीक्षक (सूक्ष्मदर्शी) शक्तियों का विद्युत चुम्बकीय शक्तियों से संयोजन करने में सक्षम हैं, अपितु उसी प्रकार गुरुत्वाकर्षण शक्ति का अन्य तीन से भी संयोजन कर सकती हैं। जो मूल्य चुकाना अनिवार्य है (क्योंकि भौतिकी में भी जीवन के समान सदा एकमूल्य चुकाना पड़ता है)। वह यह कि आज हमें कितनी ही संख्या में नये आदिम तत्वों का अस्तित्व स्वीकार करना होता है। यह स्थिति इतनी गंभीर न होती यदि इन कणों की खोज करने के संयोग (अवसर) महत्वपूर्ण होते। दुर्भाग्यवश स्थिति यह नहीं है, अतः इन विकासों की अनभिव्यक्ति क्षमता वैज्ञानिक दृष्टि-बिन्दु से इन्हें अपूर्ण बना देती है।

धीर पाठक भी यह जानने का इच्छुक होगा कि ज्योतिर्भौतिकी वैज्ञानिक सूक्ष्मदर्शी भौतिकी में इतना रुचि क्यों लेता है (क्योंकि विषय तो पूर्णता में ब्रह्माण्ड है) क्योंकि इनमें से कुछ तो नितान्त सूक्ष्म (गूढ़) प्रतीत होते हैं। इस रुचि के दो कारण हैं। प्रथम कारण तो यह कि ये सभी कण विभिन्न (बहुत) ज्योतिर्भौतिकी स्थितियों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। एक बहुत ही घना (गहन) तारा एक न्यूट्रोन तारा (पल्सर) बन जाता है क्योंकि न्यूक्लीयर गठनता के लगभग, अत्यधिक गहनता के समय प्रोटोन इलेक्ट्रोन से मिल जाते हैं जिससे न्यूट्रोन बनते हैं तथा तब यह स्थिर होकर न्यूट्रिनोज बन जाते हैं। ब्रह्माण्ड का प्रारम्भ, अथवा, यदि कहना चाहें, उसकी आद्य प्रावस्था, आधारभूत शक्तियों के अनुक्रमिक 'पृथक्करण' से चिह्नित होनी चाहिए, यह हम देखेंगे। आकाश-गंगाओं की गतिविधि एवं आकाश गंगाओं का गुच्छ प्रत्यक्षतः ब्रह्माण्ड में अनेकों कणों की उपस्थिति के कारण है। यह कण

सामान्यतः संकोची (बहुत छोटी) स्थूलता के हैं जो प्रवृत्या उस पदार्थ से बहुत भिन्न हैं, जिससे हम बने हैं। इन चार शक्तियों एवं उनके द्वारा सक्रिय हुए कणों से हमें उन साधनों एवं हेतुओं की उपलब्धि होती है जिनकी क्रिया में ब्रह्माण्ड का विकास एवं इतिहास बना है।

4. ज्योति-भौतिकी वैज्ञानिक एक इतिहासकार, एक पुरातत्वविद् एवं एक गुप्तचर है

अब हम बड़ी स्थूल रेखाओं में ब्रह्माण्ड का समग्रता में इतिहास पुनरंकित करने चले हैं, इसमें उपयुक्त क्षण पर आकाश गंगा, तारा एवं यहां तक कि सौरमण्डल का इतिहास भी उल्लेखित किया जायेगा। यहां हम स्वयं को अन्तरिक्ष-सिद्धान्त के ढॉचे में (रुपरेखाकार में) स्थित करते हैं जिसे अधिकांश ज्योति-भौतिकी वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है। यह तथाकथित महाविस्फोट का सिद्धान्त है जिसे पेन्जिआज ए. आर. विल्सन ने सन् 1965 में इस तथ्य से खोजा था कि 3 K से विस्तारित विकिरण पूर्णतः ब्रह्माण्ड को भर देता है। इससे इस सिद्धान्त को पूर्ण विश्वसनीयता मिली। जैसाकि हमने कहा आद्य घटना अवश्य दो सौ खरब वर्ष पूर्व घटित हुई होगी। ब्रह्माण्ड के इतिहास को छह कालों में उपविभाजित किया जा सकता है। प्रथम का काल विस्तार रहा होगा मात्र कुछ क्षण, परन्तु यह घटनाओं में बड़ा समृद्ध था क्योंकि उस काल में ब्रह्माण्ड का तापमान अत्यधिक ऊंचा था जो 10^{32}K से 10^{10}K तक होगा। दूसरा काल लगभग तीन मिनट रहा होगा। एस. वीनवर्ग को अपनी पुस्तक का नाम (The First Three Miniutes) इसी से मिला है। इस काल में ब्रह्माण्ड ने ड्यूटेरियम जैसे सबसे हल्के तत्व का निर्माण देखा। यह उदजन के भारी आइसोटोप तथा हीलियम (आणिविक स्थूलता 3 एवं 4) और लिथियम (आणविक स्थूलता 7) है। तब ब्रह्माण्ड का तापमान 10^{10} और 10^{8}K ही के मध्य था। तीसरा काल दस लाख वर्ष रहा तथा यह तब समाप्त हुआ जब तापमान 10,000 K के लगभग हुआ। इस तापमान पर प्रोटोन इलेक्ट्रोनों से जुड़ने लगे, जिससे उदजन के अणुओं का जन्म हुआ। ब्रह्माण्ड अपारदर्शी[2] नहीं रहा, उस क्षण उत्सर्जित फोटोन उदजन बने, जो ब्रह्माण्ड के बृंहण (विस्तीर्णन) के फलस्वरुप शीत हो जायेंगे तथा फैलकर 3 विकिरण प्रदान करेंगे, जिसका महत्तम मिलीमीट्रिक तरंगों में उपलब्ध होता है। ब्रह्माण्ड के प्रत्येक क्यूबिक सेण्टीमीटर में विस्तीर्ण पृष्ठ भूमि के 300 फोटोन होते हैं जो उदजन के बनने में आते हैं। इस प्रकार प्रथम दस लाख वर्षो के पश्चात् एक युग की, जिसे विकिरणशील प्रकार युग कहा जाता है, समाप्ति हुई। इसमें पदार्थ पर विकिरण हावी (अधिशासी) था तथा जो तथाकथित तारकीय युग का पूर्ववर्ती था, जिसमें आज हम रह रहे हैं। इस तारकीय युग को भी तीन भागों में बांटा जा सकता है। आदिम युग प्रथम दस अरब वर्ष जिसमें गंगायें एवं आकाश गंगाओं के गुच्छ का जन्म हुआ। यह युग है जिसमें आज कल हम रह रहे हैं जिसमें तारकों का जन्म, जीवन एवं क्षय होता है तथा अन्ततः ब्रह्माण्ड का सुदूर भविष्य जिसमें या तो प्रोटोन की मृत्यु का सम्बन्ध होगा अथवा ब्लैक होल का जो कि अन्ततः एकमात्र अश्मीकृत पदार्थ के रुप में बचेगा।

ब्रह्माण्ड का प्रथम क्षण

ब्रह्माण्ड का प्रथम क्षण अथाह ऊष्मा एवं घनता का वैशिष्ट्य लिये था जिसके फलस्वरुप अनेकों पूर्वनिर्दिष्ट कणों का जन्म सम्भव हो सका, विशेषतः उनका जिन्हें एकीकरण सिद्धान्तों ने पूर्वघोषित

किया था तथा उनमें से कुछ का विलय भी सम्भव हो सका। सीधे क्वान्टम-यान्त्रिकी से गृहीत, हाइजैनबर्ग के अनिश्चयता-नियम के कारण, समय के सन्दर्भ में अनिश्चयता का उत्पादक,ब्रह्माण्ड में निहित ऊर्जा से गुणित होकर प्लैंक के स्थिर (अचल) से कम नहीं हो सकता। परिणामस्वरुप हम समय को 10^{43} सैकण्डों (क्षणों) से कम परिभाषित नहीं कर सकते। इसे (प्लांक) का ब्रह्माण्ड समय कहा जाता है।

इस सन्दर्भ में हमें याद रखना चाहिए कि "ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से पूर्व क्या था ?" प्रश्न कुछ अर्थ नहीं रखता। यहां पूर्व सम्भव ही नहीं है क्योंकि पदार्थ के होने पर ही समय की वास्तविक परिभाषा हो सकती है।

इस प्रथम सैकण्ड के क्रान्तिक क्षण, तब, 10^{35} सैकण्ड पर स्थित होते हैं, जहां गुरुत्वाकर्षण शक्ति एवं प्रबल शक्ति, विद्युत-क्षीण शक्ति से एकीकृत होना बन्द कर देती है। एक्स एवं वाई कणों से अधिशासित यह क्षण तब समाप्त हो गया जब क्वार्थ एवं लैप्टन प्रकट हो गये। 10^{32} एवं 10^{10} सैकण्ड के समय विद्युत क्षीण शक्ति एकीकृत रही, क्वार्थ ग्लूओन से प्रतिबन्धित नहीं रहे, वह स्वतन्त्र थे एवं W तथा Z कणें के साथ साथ अस्तित्व में थे।

दो क्षण जब शक्तियां 10^{-39} सैकण्डों पर सभी 4 या 3 शक्तियों के लिए (गुरुत्वाकर्षण की समस्या अब भी रहस्यमयी है) तथा 10^{-10} सैकण्ड पर विद्युत-क्षीण शक्ति के लिए एकीकृत होना समाप्त कर देती हैं यह स्थिति उस सदृश है जिसे भैतिकीविद् स्वरुप संक्रमण कहते हैं। यह तरल जल के हिम या वाष्प में रुपान्तरण के समान है। अनेकों ब्रह्माण्ड-वैज्ञानिक जैसे ए. गुथ, पी. स्टीन्हार्ट, एम. टर्नर तथा ए. लिण्डे, यह सोचते हैं कि 10^{-35} सैकण्ड के समय ब्रह्माण्ड संक्रमण स्थिति के फलस्वरुप अपने बृंहण (विस्तीर्णन) में एक अतिशीघ्र त्वरण प्राप्त कर गया। इसे वह 'ब्रह्माण्ड का स्फीतीकरण' नाम देते हैं। इस क्रूर विस्तीर्णन की प्राक्कल्पना का एक लाभ यह है कि इस विशेप युग में बिना किरणों के विश्व की परिकल्पना में जो कठिनाई उपस्थित होती है उसे यह निराकृत कर देती है, क्योंकि इस स्फीतीकरण ने ब्रह्माण्ड के अतीत को (यदि कोई अतीत था) मिटा दिया।

इसने ब्रह्माण्ड को कारणात्मक बना दिया क्योंकि महाविस्फोट सिद्धान्त (Big Bang Theory) का चिरप्रतिष्ठित आदर्श इसे स्पष्ट करने में असमर्थ है कि ब्रह्माण्ड के दो दूरवर्ती क्षेत्र क्यों समान भौतिक-गुण-धर्म रखते हैं। 10^{10} सैकण्ड के समय एक अन्य अवस्था-संक्रमण (अवस्थान्तरण) घटित हुआ, जिसे कण-भौतिकी-वैज्ञानिक एक गूढ़ नाम, क्वान्टम क्रोमो-डायनैमिक्स देते हैं। इस अवस्था ने क्वार्कों का तथा उनके संयोगों का मेसोन, न्यूक्लिओन, प्रोटोन एवं न्यूट्रोन में प्रतिबन्धन कर दिया। इस समय तथा प्रथम सैकण्ड के अन्त तक लेप्टोन, इलेक्ट्रोन तथा पोजिट्रोन भौतिकी पर प्रभावी रहे फोटोन नहीं। उन्हें प्रथम सैकण्ड के अन्त तक प्रतीक्षा करनी पड़ी।

रुसी भौतिकीविद आन्द्रे सखारोव की देन, जो अन्य कारणों से विश्वप्रसिद्ध हैं, यह खोज है कि ब्रह्माण्ड बहुत शीघ्र असीमित हो गया था, जिसका अभिप्राय यह हुआ कि ब्रह्माण्ड के प्रथम सैकण्ड से ही यह उतनी मात्रा में प्रतिपदार्थ रखने में रुक गया जितनी मात्रा में पदार्थ प्रथम सैकण्ड के अन्त में, जहां से विकिरणशील युग का प्रारम्भ हुआ, ब्रह्माण्ड में न्यूक्लिओन (प्रोटोन एवं न्यूट्रोन) की अपेक्षा फोटोन सौ अरब गुणा अधिक थे।

ब्रह्माण्ड के प्रथम तीन मिनट

जब प्रथम सैकण्ड समाप्त हुआ, तब प्रोटोन, न्यूट्रोन, ऋणात्मक एवं धनात्मक इलैक्ट्रोन तथा उनके न्यूट्रिनोज में सन्तुलन समाप्त हो गया तथा आद्य न्यूट्रोन विघटित होने लगे। परन्तु, तब तापमान अधिक हल्के तत्वों की निर्मिति के अनुकूल होने लगा। तापमान पर्याप्त रुप से ऊष्म था (10^8K से अधिक) अतः प्रोटोन द्वारा न्यूट्रोन के अवशोषण के पश्चात् ड्यूट्रियम बन सका। इससे हीलियम 3 हीलियम 4 तथा लिथियम का उत्पादन हो सका। तापमान उतना अधिक ऊष्म भी नहीं था कि (10^{10}K से कम) फोटोन उस सबको नष्ट कर देते जो कुछ सायुज्य (संलग्न) प्रतिक्रिया ने रचा था।

यहां तकनीकी ब्यौरे में न जाकर (जिसके लिए यहां स्थान नहीं है) हम यह 'सिद्ध' कर सकते हैं कि इस समय सामान्य पदार्थ के रुप में ब्रह्माण्ड की घनता अवश्य उससे कम होगी जिससे ब्रह्माण्ड अपने गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव में विस्तीर्णक^3 के पश्चात् आकुंचित हुआ। यह इस समय बने ड्यूट्रियम एवं हीलियम 4 के प्रेक्षित मूल्यों (महत्व) को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है। दूसरी ओर, हमने अब तक तीन भिन्न भिन्न प्रकार के लैप्टोन (इलैक्ट्रोन, मुओव तथा ताओ) उनसे सम्बद्ध न्यूट्रिनोज के साथ (जिसे एकीकरण सिद्धान्त छह प्रकार के क्वार्कों के अति निकट ला देता है) अवलोकित किये हैं। एक नये लेप्टोन परिवार के लिए यहां स्थान नहीं है, क्योंकि यदि वह विध्यमान हो तो वह ब्रह्माण्ड के विस्तीर्णन में अधिक तीव्र गति देगा जिसका परिणाम हील्यिम 4 का अधिक मात्रा में उत्पादन होगा। इससे हम आद्य न्यूक्लयोसिन्थेसिस की इन प्रक्रियाओं से पूरे महत्व (मूल्य) को माप सकते हैं जो (झूठे) 'मिथ्याकरणीय' सिद्ध किये जाने योग्य परिणामों की ओर ले जाते हैं। यदि हमें लेप्टोनों के अन्य परिवार मिल जाते हैं जो यह अतिसरलीकृत विस्फोट सिद्धान्त 'स्फीति' सहित या बिना स्फीति के, एक अन्य सिद्धान्त से बदलना पड़ेगा जो इन नये लेप्टोनों के अस्तित्व को लेकर चले।

प्रथम दस लाख वर्ष

एक बार जब हम जान लेते हैं कि प्रथम दस लाख वर्ष फोटोन से अधिशासित थे तथा निश्चय ही इस काल में, घनता में अस्थिरता ने आकाश गंगा तथा आकाश गंगाओं के गुल्म (गुच्छ) के निर्माण में योग दिया था, तो इन प्रथम दस लाख वर्षों के बारे में कहने के लिए कुछ भी नहीं रह जाता। विकिरण युग से तारक युग की ओर, प्रोटोन एवं इलैक्ट्रोन तथा 'ब्रह्माण्डीय' फोटोन से विमोचन द्वारा परिवर्तन (गमन) की पहले ही चर्चा हो चुकी है।

प्रथम दस अरब वर्ष

इस काल में (हमारी आकाश गंगा समेत) सभी आकाश गंगायें अवश्य निर्मित हो गई होंगी। जो तब इन आदिम अस्थिरताओं से आकाश गंगाओं के गुच्छ बन गई होगीं। अब भी (इस विषय में) दो प्रतिस्पर्धी सिद्धान्त हैं - सोवियत-सिद्धान्त जिसे 'पानकेक' सिद्धान्त (अथवा सम्भवतः ब्लिनी सिद्धान्त) कहा जाता है। इसके अनुसार प्रथमतः बहुत विस्तृत संरचना सृष्ट हुई जो कि आकाश-गंगाओं के गुच्छ से भी बहुत बड़ी थीं। वे फिर आकाश गंगाओं के गुच्छ में एवं आकाश गंगाओं में बंट गयीं। एंग्लो सैक्सन सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि समय व्यतीत होने के साथ-साथ

ये अस्थिरता में बढ़ती गईं तथा हम तारक-गुच्छ से आकाश गंगा एवं तब आकाश-गंगा-गुच्छों की ओर अग्रसर हुए। आज प्रतीत होता है कि एंग्लोसैक्सन सिद्धान्त विस्तृत संरचनाओं की गतिकी के अवलोकनों (प्रेक्षण-फलों) पर अधिक बेहतर रुप से विचार करता है।

हम प्रत्यास्मरण कर सकते हैं कि बहुत हल्के तत्वों की निर्मिति सामान्य पदार्थ के रुप में, ब्रह्माण्ड की घनता की ऊर्ध्वसीमा स्थापित कर देती है। यह सीमा स्थूल रुप में क्रान्तिक घनता के 10-20 प्रतिशत के तुल्य है जिसके पश्चात् भविष्य में ब्रह्माण्ड पुनरांकुचित हो जायेगा। विस्तृत संरचनाओं (उदाहरण के लिए आकाश गुच्छों) की गतिकी के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि ब्रह्माण्ड की कुल घनता, क्रान्तिक घनता के 60 प्रतिशत के लगभग होनी चाहिए। अतः यह सोचना असामयिक (अपरिपक्व) होगा कि ब्रह्माण्ड एक बार फिर अंकुचित होगा। दूसरी ओर अवश्य ऐसा कोई अदृश्य पदार्थ होना चाहिए जो न्यूक्लिओन (प्रोटोन तथा न्यूट्रोन) के बनाने वाले कणों से पूर्णतः भिन्न हो जिससे हमने आकार ग्रहण किया है। यह सम्भवतः न्यून संहति के कण हैं (इलेक्ट्रोनों की संहति का एक स्त्रांश या कहें अतिन्यून संहति के कण हैं जो अन्य गति से अनुप्राणित हैं (जो न्यूट्रिनोज के सन्दर्भ में नहीं होती)। कण-भौतिकी वैज्ञानिकों की तीव्र कल्पनायें सुझावों के क्षेत्र में पीछे नहीं हैं - कॉर्डस्, सुपरकॉर्डस, एक्सिओन, क्वार्कपिण्ड आदि-आदि।

इस युग में बहुत ही सक्रिय केन्द्र (न्यूक्लियस) पर कुछ आकाश गंगायें, अपने बाहरी क्षेत्रों में कहीं अधिक भास्वर, अवश्य क्वासार बन गई होंगी, जो बहुत सक्रिय, ऊर्जस्वी एवं भास्वर न्यूक्लियस वाली आकाश गंगाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

वर्तमान

आज हम उस युग में रह रहे हैं जिसमें सामान्य पदार्थ ब्रह्माण्ड की भौतिकी को अधिभासित करता है तथा जो तारों के जीवन, विकास एवं क्षय से चिहिनत है। इस प्रकार आकाश गंगायें अरबों-खरबों तारकों से बनी हैं। इनमें से एक, सूर्य, ने हमारे लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, क्योंकि इस तारक के इर्द-गिर्द पृथ्वी परिक्रमण करती है तथा हम अपनी ऊर्जा इसके विकिरण से प्राप्त करते हैं।

उल्कापातों के समस्थानिक (आइसोटोपिक) तिथि निर्धारिण से हम सूर्य की आयु को उससे कहीं अधिक शुद्धता से जान सकते हैं जितना अन्य खगोलीय घटकों के निर्णयन में जानना सम्भव है। 4.555 अरब वर्ष पूर्व सूर्य अन्तर-तारकीय मेघ से उत्पन्न हुआ था। अपनी निजी गुरुत्वाकर्षण शक्ति के प्रभाव से लगभग सौ लाख (एक करोड़) वर्ष पूर्व, आकुंचित होने के पश्चात्, सारे इस काल में इसकी अपेक्षाकृत स्थायी दीप्ति एंव स्थायी तल-तापमान बना रहा होगा जैसाकि पृथ्वी पर जीवन की प्रारम्भिक (शीघ्र) उपस्थिति से सिद्ध होता है। इसके आकुंचन की अवधि में इसने संहति का छोटा भाग त्याग दिया होगा जिससे सौर-मण्डल का जन्म हुआ। जबकि सूर्य अपनी धुरी पर बहुत धीमी गति से घूमता (परिक्रमण करता) है, जिसका एक चक्र 28 दिन का है, सौर-मण्डल का परिक्रमण व्यावहारिक रुप में बृहस्पति एवं शनि पर केन्द्रित (घनीभूत) है। सूर्य अपनी ऊर्जा इसके केन्द्र मे स्थित उद्जन के हीलियम में परिवर्तित होने से लेता है जहां लगभग एक करोड़ डिग्री का तापमान है। अनुमानतः लगभग पचास खरब वर्ष में सूर्य के केन्द्र में स्थित उद्जन की मात्रा पर्याप्त नहीं रहेगी। उस समय कोई बड़ी नाटकीय घटना घटेगी। केन्द्रीय क्षेत्र में तब तक आकुंचन होगा जब तक कि वह दस

करोड़ डिग्री का तापमान नहीं पा लेता जो कि हीलियम के कार्बन में रुपान्तरण के लिए तथा बाहरी क्षेत्रों के बृंहण (विस्तीर्णन) के लिए पर्याप्त होगा। पचास अरब वर्षों में पृथ्वी पुनः सूर्य का भाग बन जायेगी। तब सूर्य की लगभग दस अरब वर्ष 'आयु' शेष रह जायेगी। ग्रहीय निहारिका के रुप में इस का विकास समाप्त हो जायेगा। तब यह श्वेत बौना, एक बहुत ही सघन अश्म तारक (10 ^{a} ग्राम प्रति cm^3) एवं फलस्वरुप क्षीण किरण हो जायेगा जो कई कोटि वर्षों के पश्चात् एक अदृश्य काला बौना बन जायेगा।[4]

सूर्य से अधिक संहति वाले तारक उतनी देर जीवित नहीं रहेंगे क्योंकि वे अधिक दीप्तिमान हैं। (उनकी दीप्तिमत्ता उनकी संहति के घनवर्ग के अनुसार बढ़ती रहती है जबकि उनकी उपलब्ध ऊर्जा संहति के अनुपात में होती है।) वे अपने जीवन को एक अधिनव तारक विस्फोट के रुप में समाप्त करते हैं जो एक बहुत ही विरल घटना है (एक आकाश गंगा में प्रत्येक पचास वर्ष में एक बार विस्फोट होता है) पर यह इतनी ऊर्जा मुक्त होती है कि यह आकाश गंगा की अन्तर-तारक भौतिकी को प्रभावित करती है। अवशिष्ट अधिनव तारक, अर्थात् जो केन्द्र में रह जाता है, वह एक न्यूट्रोन तारक अथवा पल्सर होता है।

ब्रह्माण्ड का भविष्य

दो संभावनायें पूर्वापेक्षित की जा चुकी हैं। प्रथम यह कि यदि घनता क्रान्तिक घनता से अधिक हो, जैसाकि पूर्ववर्ती घटनाओं से प्रतीत होता है, उतनी असम्भव नहीं है। तब ब्रह्माण्ड लगभग 500 अरब वर्षों में एक नया आकुंचन काल अनुभव करेगा, उसमें एक अन्य ऊष्म काल प्रारम्भ होगा, आदि-आदि। दूसरी यदि प्रोटोन भंगुर है तो लगभग 10 वर्षों में ब्रह्माण्ड में केवल इलैक्ट्रोन एवं विकिरण बच रहेगा।

यदि ब्रह्माण्ड की घनता क्रान्तिक घनता से कम हो तथा प्रोटोन कण-भौतिकी वैज्ञानिकों के प्रतिपादनों से अधिक प्रतिरोधी सिद्ध होता है तो यह (ब्रह्माण्ड) बृंहित होता रहेगा अर्थात् शीतल होता रहेगा। विकिरण 3K से 2K तथा फिर 1K हो जायेगा (पूर्ण शून्य एक अप्राप्य सीमा है जैसाकि 10^{43} सैकण्ड समय)। दो भौतिकी वैज्ञानिक, एफ. डायसन एवं जे.एन.इसलाम, ऐसा सोचते हैं कि ब्रह्माण्ड में केवल श्याम विवर रह जायेंगे अर्थात् इतने सघन पदार्थ जो अपना विकिरण[5] स्वयं में ही बन्दी बनाये रखेंगे। यह सोचने के बड़े अच्छे कारण हैं कि आकाश गंगाओं के केन्द्र में (विशेषतः क्वासर्स के केन्द्र में) श्याम-विवर हैं। ये श्याम-विवर बाकी के आकाश-गंगीय पदार्थ को आकृष्ट करते हैं तथा उसे ऊष्म करने में 'निगल लेते हैं' जिससे आकाश गंगा के न्यूक्लियस को सक्रिय होने में सहायता मिलती है।

बहुत सुदूर काल के अनन्तर केवल श्याम-विवर रह जायेंगे, जो शून्य की क्वान्टम अस्थिरताओं से उत्पन्न, कण एवं प्रतिकण-युग्मों की परस्पर क्रिया के विकिरण द्वारा 'वाष्पीभूत' हो जायेंगे। जे.एन.इसलाम का विचार है कि श्याम-विवरों के इस धीमे वाष्पीकरण के प्रभाव द्वारा पूर्णतः लोप होने में 10 ^{10} वर्ष लगेंगे। ऐसा समय हमारे लिए अकल्पनीय है। परन्तु यह अनन्त नहीं है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड अद्वितीय घटनाओं में उत्पन्न हुआ था उसी प्रकार अपेक्षाकृत दीर्घकाल में विकिरण द्वारा यह लुप्त हो जायेगा।

5. ब्रह्माण्ड एवं मानवता का विकास : एक दृष्टि

इस लेख की आकृतिक-सीमा के अनुरुप ब्रह्माण्ड एवं इसके विकास तथा इतिहास के नियामक भौतिकी के नियमों आदि के बारे में, अन्वेक्षणों के सन्दर्भ में, जो कुछ अभी कहा गया है, वह स्पष्टतः ही अपूर्ण (आंशिक) है। फिर भी, हम देखते हैं कि किस प्रकार पिछले कुछ समय में ब्रह्माण्ड के बारे में हमारी समझ एवं दृष्टि विकसित हुई है। अणु भौतिकी के सम्बन्ध में विकसित अनेकानेक सिद्धान्त कुछ ही वर्ष पुराने हैं। उसी प्रकार सन् 1981 तक शनि के चारों ओर तीन वलयों के बारे में ही अभिज्ञ थे। तब वोयेजर द्वारा गहरे परीक्षणों ने इस ग्रह के चतुर्दिक् परिक्रमणशील अनेकों वलयों की व्यवस्था से उत्पन्न (निःसृत) निश्चित सुन्दरता को अनावृत किया। हमारे विश्व के बारे में दृष्टिकोण बहुत शीघ्र विकसित एवं समृद्धतर हो रहा है। यह अधिक परिष्कृत एवं निश्चयाक अन्वेक्षणें द्वारा तथा अनन्त सूक्ष्म के बारे में बेहतर ज्ञान द्वारा (दोनों-के द्वारा) हो रहा है। ब्रह्माण्ड विकास के आयोजक विश्लेषण (योजनाबद्ध विशलेषण) द्वारा एक अनिवार्य परिणाम यह निकला कि अनन्त रुप में लघु, अनन्तरूप में विशाल के विकास का, अधिशासी (नियामक) है। सापेक्षतावादी कणों के अस्तित्व पर निर्भर करके अथवा बिना निर्भर किये, हमें आकाश गंगा-गुच्छों की संरचना एवं गतिकी के बारे में अवश्यमेव अपने विचारों में सुधार लाना चाहिए। ब्रह्माण्ड के प्रथम सैकण्ड का अध्ययन अपने में शुद्ध कण-भौतिकी विज्ञान की समस्या है (इसमें अपवाद केवल क्वान्टम गुरुत्वाकर्षण के प्रश्न का है)। अब यह प्रमाणित है कि ब्रह्माण्ड सर्वोत्तम संभव प्रयोगशाला है तथा यह उन साथियों पर भी अपने आकर्षण का प्रभाव बढ़ा रही है जो अपने अपने क्षेत्रों में तो विशिष्ट योग्यता रखते हैं पर आकाश (अन्तरिक्ष) की श्लाघा में अपना ध्यान नहीं देते।

एक अन्य विचारणीय विषय, जिस को हम इस लेख में विकसित नहीं कर सके, वह यह तथ्य है कि हम स्वयं ब्रह्माण्ड के घनिष्ठ (अभिन्न) अंग हैं तथा इस पर, अपनी भवितव्यता से अलग करके, विचार नहीं कर सकते। यह सर्व-विदित है कि वे रासायनिक तत्व, जिनसे हम बने हैं, सूर्य की उत्पत्ति से पूर्व कई पीढ़ियों के तारकों से आ रहे हैं। हमारे परमाणुओं की अब से छोटी आयु की न्यूक्ली, पचास अरब वर्ष पुरानी है तथा हमारे उद्जन परमाणु दो सौ अरब वर्ष पुराने हैं। अब सर्वसाधारण कल्पना के अनुसार, हम तारक धूलि से बने हैं, हमारा अस्तित्व (या हमारी विद्यमानता) बड़ी मात्रा में सौभाग्यशाली परिस्थितियों पर आधारित है। इनमें से अधिकांश पुनः अणु-भौतिकी के संसार को अन्तर्गस्त किये हुए हैं। स्वंय को बहुत ही आदर्श उदाहरणों तक सीमित करें तो पृथ्वी पर जीवन का उदय इस तथ्य से आता है कि उद्जन का हीलियम में विगलन बहुत धीमा है। धीमी गति, इस तथ्य से आती है कि परमाणु संहति 5 एवं 8 की न्यूक्ली बहुत अस्थिर हैं। हीलियम का कार्बन में विगलन इसीलिए संभव है क्योंकि तीन हीलियम की न्यूक्ली व्यवस्था ऊर्जा की दृष्टि से उत्तेजित स्तर के कार्बन से मेल खाती है। न्यूक्लियर संयोगों के उदाहरणों को, जो न्यूक्ली के उदय में सहायतोत्पादक हैं जैसे कि कार्बन, नाइट्रोजन एवं आक्सीजन जो स्वयं जैविक मॉलीक्यूलों के सृजन में उपयुक्त हैं, कई गुणा रुप में दिखाया जा सकता है।

ब्रह्माण्ड ऐसा पदार्थ नहीं है जो हमसे विलग (या पृथक्) हो। यह रहस्यपूर्ण बना हुआ है तथा सदा बना रहेगा, परन्तु प्रत्येक बीतता हुआ दिन हमें इसे अधिक अच्छी तरह समझाने तथा उसका महत्व अधिकाधिक समझने का अवसर देता है।

संदर्भ-सूची

1. इंगलिश भाषा के वैज्ञानिक साहित्य में इसे "बड़ा धमाका" शीर्षक से संकेतित किया जाता है। जैसा कि मेरे साथी माइकेल कासे ने कहा है यह "ओजस्वी" अभिव्यक्ति कोई अर्थ नहीं रखती क्योंकि जो हुआ था वह तीव्र बृंहण था।
2. जब हम बहुत दूर देखते हैं तो हम सितारों को बहुत दूरवर्ती समय में देखते हैं। विस्फोट सिद्धान्त (Big Bang theory) यह प्रतिपादित करता है कि हम उस काल से परे कभी नहीं देख सकते जब ब्रह्माण्ड अपारदर्शी था जिसे अन्तरिक्षीय क्षितिज कहा जाता है की संरचना करता है।
3. ब्रह्माण्ड या तो निरन्तर विस्तीर्ण होते रह सकते है (यदि इसकी अपनी गुरुत्वाकर्षण शक्ति बहुत अधिक ऊंची नहीं है) अथवा परवर्तीकाल में आंकुचित हो सकता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक कृत्रिम उपगृह पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति को बहुत सीमा तक जीत पाता है। उदाहरण के लिए यह तोप के गोले के सन्दर्भ में नहीं लागू होता।
4. एक श्वेत बौने की किरणें व्यावहारिक रुप में पृथ्वी की किरणों के समतुल्य (1/100 सौर किरण) होती हैं, जब उनकी संहति सूर्य के अनुरुप हो।
5. बहुत समय पूर्व लेपलेस ने उन तारकों की कल्पना की थी जिनकी भौतिकी गुण-धर्म सामान्य गुरुत्वाकर्षण का परिणाम होंगे। अन्तरिक्ष में (आकाश में) कितने ही तारकीय एवं आकाश गंगीय श्याम-विवर बनने के अभ्यार्थी हैं।

****

सार्वलौकिक साहित्य और अन्य की समस्या*

फौजी बोबिया

विज्ञान, तकनीकी और संचार के माध्यमों में द्रुतगामी विकास ने मनुष्य के लिए अप्रत्याशित संवाद-संभावनाएं प्रस्तुत कर दी है।[x] फिर भी यह निस्संकोच माना जाना चाहिए कि हम एक ऐसे विश्व में रह रहे हैं जो प्रजातिवाद, कट्टरता, दूसरे के भय और प्रत्येक प्रकार के संघर्ष से आक्रान्त हैं। यही कारण है कि हमने गेटे की विश्व साहित्य (सार्वलौकिक) और अन्यत्व की अवधारणाओं को पुनर्जीवित करना उपयोगी समझा। चूंकि ये अवधारणाएं एवं दूसरे को समझने की इच्छा मानववादी की उदारता से प्राप्त होती है। यह हमें अंतस्सांस्कृतिक समस्याओं पर विचार-विमर्श में अपना योगदान करने में मदद कर सकती है जो अधिकाधिक जीवन्त वाद विवाद को जन्म देती है।

पश्चिम में जिसे सार्वलौकिक साहित्य कहा जा रहा है, वह यूरोप को केन्द्र मान कर सार्वलौकिक आयामी कृतियों की संचयिका मात्र है। सार्वलौकिक साहित्य के अधिकांश पुस्तकालयों और संग्रहों में अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका और एशिया की कृतियों को वांछनीय स्थान नहीं दिया गया है। दूसरे शब्दों में, पश्चिमी सभ्यता से भिन्न अन्य सभ्यताओं का, सांस्कृतिक अन्य का, साहित्य तथाकथित सार्वलौकिक साहित्य के रिकार्ड में अनुपलब्ध है।

कुछ वर्ष पूर्व "तुलनात्मक साहित्य के अंतर्राष्ट्रीय संस्थान" की बैठक में रेने इटिम्ब ने इस स्थिति का बहुत अच्छी प्रकार कथन किया। उस समय उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि क्या हमें सार्वलौकिक साहित्य की धारणा को संशोधित करना चाहिए।[1] उन्होंने अपना मत व्यक्त किया कि फ्रांस, जर्मनी और अन्य यूरोपीय देशों में सार्वलौकिक साहित्य के अधिकांश संग्रहों और अध्ययनों में विश्व का साहित्यिक परिप्रेक्ष्य नितान्त यूरोपीय रहा है।

सामान्यतः गेटे की विश्व साहित्य की अवधारणा इस एकांगी चयन-प्रक्रिया के आयाम से मात्र यूरोपीय परिप्रेक्ष्य में ही संकुचित हो गई है। अवधारणा की ऐसी व्याख्या से यूरोपीय लेखकों द्वारा

---

* Fawzi Boubia : Universal Literature and Otherness; **Diogenes** No. 141, Spring 1988, pp. 76-111.
अनुवाद : महावीर दाधीच

पश्चिमी जगत् से ही कृतियों का चयन करने का नियम सा बन गया है। फ्राँसुआ जोस्त का उदाहरण द्रष्टव्य है। जोस्त ने विश्व साहित्य (Weltliteratur) की बजाय मूल्य साहित्य (Wertiliteratur) की धारणा प्रस्तावित की है।[2] विश्व साहित्य के इनके कृतिपरक उदाहरण मुख्यतः पश्चिमी क्षेत्र तक ही सीमित हैं।

यह "सार्वलौकिक" की संकुचित अवधारणा है। हमारी अपेक्षा सार्वलौकिक साहित्य में सब मनुष्यों के सामान्य को पाने की रहती है, जबकि हमें सार्वलौकिक के नाम पर दिया वह जाता है जिसमें केवल यूरोपीय व्यक्ति का ही प्रतिबिम्ब प्रक्षिप्त होता है। लम्बे समय से यूरोप में सावैलौकिक का पर्याय यूरोपीय विश्व माना जाता रहा है। इस अवधारणा का तात्पर्य पश्चिमी सभ्यता के निर्माणक तत्वों अर्थात् सांस्कृतिक पहचान से है। दूसरी ओर, पश्चिम से सांस्कृतिक अन्यत्व इसमें से पूर्णतः बहिष्कृत रहता है। इसमें केवल उन्हीं गुणों का समावेश किया गया है जो पश्चिमी है या पश्चिमी माने जाते हैं या जिन्हें पश्चिम से अधिगृहीत कर लिया है और जिनसे पश्चिम की पहचान निर्मित होती है या सुदृढ़ बनती है।

ऐसी परिस्थिति में सार्वलौकिक साहित्य की धारणा पर विचार करना समस्याग्रस्त ही नहीं विवादास्पद भी हो गया है। क्योकि इस धारणा में 'विश्व' विषयक दृष्टि पश्चिमी परम्परा से ही निर्मित हुई है और इस प्रकार पश्चिमेतर अन्य सांस्कृतिक दाय सुनियोजित रीति से बहिष्कृत रहा है।

फिर भी, इस प्रकार का प्रश्न करना उपयुक्त होगा कि क्या गेटे ने सार्वलौकिक साहित्य परक धारणा इसीलिए संकल्पित की थी कि इसमें मात्र पश्चिमी संस्कृति का ही समावेश हो और अन्य संस्कृतियों के विश्वस्तरीय साहित्य को इससे अलग ही रखा जाये।

इस निबन्ध में हमारी रुचि इसलिए गेटे के 'अन्य' विषयक सोच को जिसे उसने सार्वलौकिक साहित्य के सन्दर्भ में विकसित किया था, प्रस्तुत करने में रहेगी। यह इसलिए भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि गेटे के अन्य विषयक सोच से उसकी सार्वलौकिक साहित्य की धारणा आलोकित होती है अथवा स्पष्ट होती है। परिणामतः यह निबन्ध द्विविध उद्देश्य प्राप्त करने का प्रयत्न है : प्रथम, पाठक को गेटे की सार्वलौकिक साहित्य की धारणा के नवीन विवेचन से परिचित करवाना और द्वितीय, इसी के साथ साथ गेटे की अन्य विषयक धारणा को प्रस्तुत करना। चूँकि गेटे में ये दोनों प्रकार के सोच परस्पर अंतर्क्रिया करते हैं और एक दूसरे का निर्धारण करते हैं, इसलिए हमारा उपागम (approach) यहां गेटे को 'दो बार पढ़ने' का रहेगा। इस उपागम से पहले हम अन्य के सोच से सार्वलौकिक साहित्य का अध्ययन करेंगे और फिर द्वितीयतः सार्वलौकिक साहित्य के माध्यम से अन्य पर गेटे के सोच को रचित करेंगे।

1. सार्वलौकिक साहित्य की विशद धारणा में अन्य

सार्वलौकिक साहित्य के प्रति मात्र पश्चिमी दृष्टिकोण के पोषक व्यक्तियों की बड़ी संख्या को देखते हुए यह आश्चर्य होता है कि मेरी जानकारी में गेटे का कोई ऐसा लेखनांश नहीं है, जिसमें पश्चिम के ही चयनित लेखकों की श्रेष्ठ कृतियों को सार्वलौकिक साहित्य में सम्मिलित किये जाने पर परोक्ष अथवा अपरोक्ष रुप से विचार व्यक्त किया गया है।

फिर भी, यद्यपि गेटे में कोई विशिष्ट यूरोपीय उपागम द्रष्टव्य नहीं है, तथापि वह सार्वलौकिक साहित्य के लिए विषयगत सन्दर्भ की बात अवश्य कहता है। टॉमस कारलायल की पुस्तक 'जर्मन

रोमांस' के विषय में उसने लिखा है, "यह स्पष्ट है कि सब देशों के श्रेष्ठ कला-निष्णात कवियों और लेखकों का लम्बे समय से प्रयत्न सार्वलौकिक रुप में मान्य मानव के चित्रण की दिशा में रहा है।"[3]

इस वाक्य में गेटे ने अपने विशेष दृष्टिकोण को सबल प्रस्तुत किया है कि उसका अभिप्राय सब देशों के कवियों और लेखकों से है। इससे उसका तात्पर्य सर्वश्रेष्ठ लेखकों और कवियों से है। [4] उसका सार्वलौकिक रुप से मान्य मानव के कवियों के लिए प्रमुख विषय के रुप में उल्लेख सार्वलौकिक साहित्य की उसकी धारणा की व्याख्या को सापेक्ष बनाता है। क्योंकि सब देशों के कवियों के लिए सामान्य की बजाय विशेष का चित्रण आधारभूत होता है : "विशेष, चाहे उसको ऐतिहासिक, मिथकीय या यादृच्छिक रुप में अवधारित किया गया है, के माध्यम से ही सामान्य प्रस्फुटित होता है और सब राष्ट्रों और व्यक्तियों में प्रकाशित होता है।" [5] इस प्रकार पाठकों या पाठक के आस्वादन में ही सामान्य का मूर्तन होता है। उक्त उद्देश्यों के आधार पर हम यूरोप-केन्द्रित संकलनों में लक्षित क्षेत्राधारित चयन का औचित्य सिद्ध नहीं कर सकते।

इससे यह संकेतित है कि गेटे की सार्वलौकिक साहित्य की धारणा विस्तृत थी और वह सब देशों पर लागू होनी चाहिए। हमें ऐसा लगता है कि गेटे को उसकी सार्वलौकिक साहित्य की धारणा की विकृत व्याख्या किये जाने की आशंका थी। इसीलिए वह अनवरत अपने दृष्टिकोण की विशदता पर बल देता रहा। गेटे इस विपय में विश्वस्त था कि सार्वलौकिक साहित्य रचा जाता है और सब देश इस ओर उन्मुख हैं।[6] उसके दिमाग में यह बात साफ थी कि कविता समस्त मानव जाति की है और यह सर्वत्र और सब व्यक्तियों में सक्रिय है।[7]

जब भी गेटे ने सार्वलौकिक साहित्य की चर्चा की है, उसने इसकी विशद् प्रकृति पर जोर दिया है। टॉमस कारलायल के "लाइफ ऑफ शिलर" ग्रंथ 7 की भूमिका में उसने लिखा है :

"सब देशों ने इस तथ्य पर गौर किया होगा कि उन्होंने बहुत सी विदेशी वस्तुओं को देखा है और अधिगृहीत किया है। उन्होंने ऐसी आवश्यकताएं भी अनुभव की हैं, जो पहले उनके लिए अज्ञात थीं।[8] "कुलोके सिआंतिफीक बर्लीन" (Colloque Scientifique de Berlin) के अवसर पर भी गेटे ने सार्वलौकिक साहित्य के विशद् स्वरुप को निरुपित किया था। यहां उसने स्पष्ट कहा कि उसने यूरोपीय साहित्य ही नहीं वास्तव में सामान्य सार्वलौकिक साहित्य की उद्घोपणा की है।"[9]

यहां 'सामान्य' पद का तात्पर्य किसी अमूर्त धारणा से नहीं है और न इसे विश्वमानववादी भावों जैसे जीवन, मृत्यु, शांति, युद्ध, प्रेम, घृणा आदि से संदर्भित समझा जा सकता है। इसका अर्थ है विश्व के सब देशों की समग्रता। उपर्युक्त उद्धरण में गेटे यूरोपीय साहित्य, विश्व साहित्य और सामान्य सार्वलौकिक साहित्य में अन्तर स्पष्ट करता है। सामान्य सार्वलौकिक साहित्य को वह भौगोलिक विस्तार देता हैं।

सार्वलौकिक साहित्य को विस्तृत स्वरुप देकर गेटे सब संस्कृतियों को सपाट करने के दुष्चक्र से बच जाता हैं। वह इतिहास के विकासवादी दर्शन की सब संस्कृतियों को एक जैसी बनाने की आकांक्षा का सहारा नहीं लेता। बल्कि इसके विपरीत, सामान्य सार्वलौकिक स्तर पर सामान्य विकास पर विचार करते हुए वह देशों और लोगों के विशिष्ट अस्तित्व एवं महत्व को कभी ओझल नहीं होने देता। इस प्रकार सार्वलौकिक साहित्य की अपनी अवधारणा में अन्यत्व और भिन्नता को संयोजित करता है। यह विचार, जिसमें सांस्कृतिक अन्य समाहित था, उसके सार्वलौकिक साहित्य के प्रत्यय का एक मूलाधार था। "आन आर्ट एण्ड ऐन्टिक्विटी (on Art and Antiquity) की समीक्षा में उसने

लिखा :

"हम पुनः कहते हैं कि प्रमुख देशों को एक जैसा समझने का प्रश्न ही नहीं उठता।"[10]

इन शब्दों में गेटे ने सार्वलौकिक साहित्य की अवधारणा को व्यक्त किया है। यह अवधारणा यूरोप - केन्द्रीयता तक ही सीमित नहीं है। इसके विपरीत, इसमें अन्यत्व और परिणातमः लोगों की विशिष्टता और निजी पहचान सुरक्षित है। [11] गेटे ने महसूस किया था कि ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक प्रगति लोगों को नजदीक ही नहीं लाती, बल्कि उन देशों, जिन्हें लगता है कि उनकी पहचान मिट सकती है, में आगन्तुक संस्कृति के प्रति प्रतिरोध भी पैदा कर सकती है।

"राष्ट्र एक दूसरे की स्थितियों से परिचित होंगे और इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों में कुछ बातें अनुकूल अथवा वरेण्य पायेगा और कुछ बातें प्रतिकूल, जिन्हें वह स्वीकार करेगा।"[12]

केवल अन्यत्व के सिद्धान्त अर्थात् अंतर, विशिष्टता और अन्य की निजी पहचान के आधार पर ही समन्वय संभव है। सब देशों की कविता की चर्चा करते हुए गेटे ने कहा हैं कि "हमें प्रत्येक देशों की विशिष्टता को पहचानना चाहिये और उन्हें अविकृत रखना चाहिए। इसी प्रकार कथित कविता से हमारा संप्रेषण संभव है। [13] गेटे के अनुसार पारस्परिक अंतष्क्रिया भी आवश्यक है, ताकि विभिन्नता के सम्पूर्ण एकान्वय के खतरे से बचा जा सके। इसी अर्थ में उसने पारस्परिक आस्वाद और मध्यस्ता की बात कही थी।

जब अन्य विशिष्टता (Particularity), इस प्रकार कि सामान्य में विशिष्ट की सहभागिता है तो गेटे की अन्य विपयक अवधारणा उस परिप्रेक्ष्य को प्रस्तुत करती है, जिसके द्वारा अन्य की विशिष्टता अविकृत रुप में उपलब्ध होती है। यह साफ बात है कि गेटे निज और अन्य के सामीप्य (affinity) में कोई कठिनाई नहीं देखता, क्योंकि उसके अनुसार "निज से समानता रखने वाले विश्वासों से हम में आत्मविश्वास पैदा होता है।" [15] लेकिन सच्ची सहिष्णुता की परीक्षा तभी होती है जब नितान्त अन्यपन से हमारा मुकाबला होता है

"जब हम ऐसे लोगों के सम्पर्क में आते हैं जो हम से भिन्न विचार रखते हैं तब हम अधिक सावधान ही नहीं रहते बल्कि और अधिक सहिष्णु होने के लिए यत्न करते हैं।"[16]

यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि अन्य को जानना और पहचानना सार्वलौकिक साहित्य की समझ की कुंजी है और गेटे इस प्रकार के सार्वलौकिक साहित्य के विकास के दौरान अन्य की विशिष्टता के विलय की संभावना से चिन्तित थे, क्योंकि इस प्रकार का विलोप जातिगत हत्या से कम नहीं माना जा सकता, फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि गेटे ने जब इस सम्बन्ध में सार्वलौकिक साहित्य की बात की तब वह पश्चिमेतर-साहित्य के विषय में ही सोच रहा था।

साहित्यिक आलोचना और तुलनात्मक साहित्य के विद्वानों ने इस तथ्य की उपेक्षा की है कि गेटे में जब सार्वलौकिक साहित्य का विचार सर्व प्रथम अंकुरित हुआ तब वह ईकरमैन से एशिया में साहित्य-सृजन पर वार्तालाप कर रहा था। 31 जनवरी 1827 को एकरमैन के कहे गये शब्दों, जिनका उद्धरण अनेक बार दिया जाता है, से उक्त विवरण और सन्दर्भ को प्रायः सदैव ही अनदेखा किया जाता रहा है। गेटे के शब्दों में :

"राष्ट्रीय साहित्य का आज कोई महत्व नहीं है, विश्व-साहित्य (सार्वलौकिक) का युग आ रहा है और हमें इसके आगमन को द्रुत गति देनी चाहिये।"[17]

इन शब्दों को यदि उक्त सन्दर्भ के बिना उद्धृत किया जाता है तो उनका सही मूल्यांकन नहीं

किया जा सकता। इस अविस्मरणीय सार्वलौकिक-साहित्य के दिन का एकरमन द्वारा प्रदत्त विवरण इस प्रकार है :

"गेटे के घर में एक मेज के पास हम बैठे थे। गेटे ने कहा "जिन दिनों तुमसे मुलाकात नहीं हुई, उन दिनों मैने बहुत सी पुस्तकें पढ़ीं। विशेषतः चीनी उपन्यास, जिसे मैं अब भी पढ़ रहा हूँ, मुझे अच्छा- पढ़ने योग्य लग रहा है"। [18] प्रारंभ में गेटे की इस संलग्नता और चीनी साहित्य के लिए प्रंशसा-भाव से एकरमन चकित हुआ। बाद में, चीन की साहित्यिक परिस्थिति की जानकारी के अभाव के कारण उसने इसे अधिक महत्व नहीं दिया। तभी उसे यह शंका भी हुई कि कहीं गेटे द्वारा उल्लिखित चीनी उपन्यास अपवाद तो नहीं है।

"मैने कहा कि शायद यह चीनी उपन्यास एक अपवाद है। तब गेटे ने कहा कि "नहीं, चीन में ऐसे हजारों हैं और उनके पास ऐसी कृतियां उस समय भी थीं, जब हमारे पूर्वज वनवासी थे।" उसने आगे कहा, "मुझे अब स्पष्ट होता जा रहा है कि कविता समस्त मानवता का दाय है। सब कालों और सब देशों में सैकड़ों-सैकड़ों व्यक्तियों में यह व्यक्त हुई है।"[19]

यह तथ्य सारगर्भित है कि पौर्वात्य अन्य के विषय में उक्त शब्दों के कथन के तत्काल पश्चात् ही गेटे ने विश्व या सार्वलौकिक साहित्य विषयक प्रस्ताव की चर्चा की :

"कोई एक कवि दूसरे की अपेक्षा अधिक सफल होता है और कुछ अधिक समय तक कवि के रुप में जीवित रहता है। 'रिणामतः वॉन माथीसॉन Von Mathisson) को यह नहीं मानना चाहिए कि वह अकेला ही ऐसा कोई एक कवि होगा, न मुझे ही ऐसा मानना चाहिए। बल्कि प्रत्येक कवि को स्वयं से कहना चाहिए कि कविता का अवदान इतना सीमित नहीं है, इसलिए अच्छी कविता लिखने के कारण किसी को भी अधिक गर्व नहीं करना चाहिए। यदि हम जर्मन लोग अपनी निकटस्थ सीमाओं से पार नहीं झाँकेंगे तो हम आसानी से अंहकार के गर्त में गिर पड़ेंगे। मैं स्वयं को अन्य देशों के साहित्य से परिचित करना चाहता हूँ और प्रत्येक को ऐसा करने का परामर्श भी देता हूँ। राष्ट्रीय साहित्य आज सार्थक नहीं है ..."[20] गेटे के लिए सार्वलौकिक साहित्य एक नारा अथवा सैद्धान्तिक और पद्धतिमूलक विचार का विषय नहीं है, बल्कि एक सच्चाई है। वह उन दुर्लभ लेखकों में से एक है, जिसने अन्य अथवा विदेशी साहित्य को अपने काव्य सर्जन का अंतर्भूत अंग बना लिया था। अपने समय का ज्ञात और सुलभ साहित्य-क्षेत्रों के अवगाहन के अतिरिक्त साहित्यिक अभिदान का क्षितिज सुदूर पूर्व तक विस्तृत था।[21]

सावैलौकिक के इस विशद् विचार तथा सांस्कृतिक अन्य को प्रदत्त महत्ता के विवेचन से ही गेटे की उक्त धारणा एवं अन्यत्व के तथा साहित्यों के परस्पर संवाद के सब आयाम पूरी तरह उद्घाटित नहीं हो जाते। सार्वलौकिक साहित्य में विभिन्न भागीदारों (साहित्यों) में परस्पर सम्बन्ध-विधान करना आवश्यक है। उन्हें एक दूसरे की सत्ता से परिचित होना चाहिए, एक दूसरे को समझना चाहिए। इस प्रसंग में कवि की भूमिका सम्मान्य है : वह माध्यम बनता है, अनुवाद करता है और इस प्रकार मध्यस्थ हो जाता है।

2. सार्वलौकिक साहित्य में अन्य का संप्रेषणात्मक स्वरुप

'संवाद' ही मुझे उपयुक्त पद लगता है, जिससे सार्वलौकिक साहित्य के संप्रेक्षणात्मक स्वरुप को अभिव्यक्त किया जा सकता है। क्योंकि गेटे के लिए अन्य का ज्ञान और पहचान स्वयं में कोई

उद्देश्य नहीं था, बल्कि अन्य से संवाद स्थापित करने के लिए परिस्थिति इनसे उत्पन्न होती है। एक ऐसी परिस्थिति - हमें याद रखना चाहिए - जो अन्य की विशिष्टताओं के प्रति गहरी संवेदनशीलता से युक्त हो, "क्योंकि राष्ट्र की विशिष्टताएं उसकी भाषा और मुद्रा के समान संप्रेषण को सहज बनाती हैं। इससे भी अधिक, इनसे ही संप्रेषण पूरी तरह संभव हो पाता है।"[22]

संवाद ही 'हमें सच्ची सहिष्णुता' [23] से परिचित करवाता है। गेटे स्वयं भी इस प्रकार की सहिष्णुता को इस्लाम के धर्म ग्रंथ कुरान के शब्दों का उल्लेख कर प्रकट करता है :

"कुरान में कहा गया है, 'ईश्वर ने प्रत्येक मानव जाति को उसी की भाषा में बोलने वाला मसीहा प्रदान किया।"'[24]

गेटे का सार्वलौकिक साहित्य के संदर्भ में संप्रेषणपरक विचार उसके इस विश्वास से निरसृत हुआ है कि अंतरर्राष्ट्रीय संप्रेषण-प्रक्रिया में निर्णायक विकास होने वाला है। गेटे के लिए यह बात महत्वपूर्ण थी कि मस्तिष्क धीरे धीरे सांस्कृतिक आदान प्रदान में भागीदार होने की आवश्यकता महसूस करता है।[25] इसी से गेटे इस निष्कर्ष की ओर उन्मुख हुआ कि सार्वलौकिक साहित्य संप्रेषणात्मक एवं व्यावहारिक ही हो सकता है। इस संदर्भ में इकरमेन से 15 जुलाई 1827 को हुई उसकी बातचीत आश्चर्यजनक नहीं है, जिसमें सार्वलौकिक साहित्य के क्रमशः अधिकाधिक लाभप्रद होने की संभावना पर बल दिया था। [26] यह लाभ प्रमुखतः यह है कि 'हम एक दूसरे का संशोधन कर सकते हैं।'[27]

गेटे ने आधारभूत आर्थिक एवं सामाजिक-परिवर्तननों पर भी ध्यान दिया। उसने देखा कि ये परिवर्तन औद्योगिक और वाणिज्यिक गतिविधि से सम्बद्ध हैं।[28] उसने पुस्तक-व्यापार में होने वाले परिवर्तनों को भी लक्षित किया, जिनके कारण सार्वलौकिक साहित्य का संप्रेषणात्मक कार्य सरल हो गया :

"इस समय जबकि पुस्तक व्यवसायी शीघ्र और कुशल कार्य कर रहे हैं, बिना इंतजार किये लोगों को पुस्तकें सुलभ हो रही हैं। बहुधा मेरे साथ ऐसा हुआ है कि कोई लेखक मुझे अपनी पुस्तक मानार्थ भेजता है, उससे पहले ही मैं पढ़ चुका होता हूँ।"[29]

गेटे द्वारा उल्लिखित समाज के इन संरचनात्मक परिवर्तनों के निश्चित रुप से सामाजिक परिणाम हुए। इनसे लेखक और पाठक में ही दूरी पैदा नहीं हुई, बल्कि लेखक और उसकी कृति में भी अलगाव उत्पन्न हुआ। दूसरे लेखक अथवा पाठक मित्र को अपनी कृति भेंट करने में जो व्यक्तिगत स्पर्श था तथा इस भेंट के परिणाम स्वरुप कवि और अन्य कवि अथवा पाठक में जो संवाद हो सकता था और इस प्रकार के सब कारक जिनसे कृति की पहचान बन सकती है आदि के लुप्त होने का खतरा इस स्थिति से पैदा हो गया। लेखक इस प्रकार अपनी कृति को निर्वैयक्तिक बना रहा था। फल यह हुआ कि लेखकों और उनकी गतिविधियों में तालमेल पर प्रश्न चिन्ह लग गया।

निस्सन्देह यह एक मुख्य कारण था, जिसने गेटे को सार्वलौकिक साहित्य की घोषणा करने और जिन्दादिल एवं महत्वाकांक्षी लेखकों को एक दूसरे को जानने और सामाजिक रुप में कार्य करने के लिए प्रेरित करने के लिए बाध्य किया।[30]

अंततः एक अन्य महत्वपूर्ण कारण भी था, जिसने सार्वलौकिक साहित्य के संप्रेषणात्मक स्वरुप को निर्धारित किया। वह था सार्वलौकिक साहित्य स्वयं, जो असम्बद्ध और अनियमित रुप से विकसित हो रहा था। गेटे ने 21 मई 1828 के दिन जैल्टर को इस विषय में लिखा :

"मैंने जिस विश्व-साहित्य का अभिप्रेरण किया है, वह झागदार लहर के समान मुझे डुबाने की सीमा तक मुझ पर फिरा हुआ है।"[31] और 4 मार्च 1829 को लिखे पत्र में गेटे विश्व साहित्य की प्रगति के परिणामों के विषय में जेल्टर के साथ आशंकित प्रतीत होता है।[32]

यहां यह बात स्पष्ट है कि गेटे सार्वलौकिक साहित्य के द्रुत विकास के लाभों की ही नहीं हानियों की भी चिन्ता कर रहा था कि भिन्न भिन्न सामाजिक एवं ऐतिहासिक स्थितियों द्वारा रचित विभिन्न संस्कृतियों की साहित्यिक कृतियों को बिना किसी आलोचनात्मक विश्लेषण के अन्य संस्कृति में तत्काल स्थानान्तरित करने की चेष्टा गेटे को परेशान कर रही थी। क्योंकि यह स्थानान्तरण ऐसे लिया जाता है कि दूसरा स्तब्ध रह जाता है। उसे माध्यम के लिए ही माध्यम की तलाश नहीं है, किन्तु वह यह अपेक्षा रखता है कि कृति को उसके अर्थ और सामाजिक महत्व की दृष्टि से आलोचनात्मक विश्लेषण के माध्यम से पहले परखा जाये। जब साहित्य को संप्रेषित किया जाये, तब पाने वाले के रुप में अन्य की विशिष्टता पर ध्यान रखा जाये ताकि उससे संवाद संभव हो सके। जेल्टर को भेजे गये पूर्वोक्त पत्र में गेटे ने कहा है : "बड़े एवं विस्तृत शहर पेरिस के रंगमंचों के साथ जैसे ज्यादती की जा रही है, वह इसे अनावश्क महसूस करने वाले हम जैसे लोगों को भी हानि पहुँचा रही है।"[33]

सार्वलौकिक साहित्य के संप्रेषणात्मक आयाम को स्वीकार करने के पश्चात् यह आश्चर्यजनक नहीं लगता कि गेटे ने सार्वलौकिक साहित्य के अनुवाद से सम्बद्ध प्रश्नों और कठिनाइयों को महत्ता दी। अपने ग्रंथ 'जर्मन रोमान्स' की भूमिका में जहां गेटे ने सार्वलौकिक साहित्य के कुछ प्रमुख पक्षों को प्रस्तुत किया है वहां अनुवादक के महत्वपूर्ण कार्य की भी चर्चा की है। उसने इस कार्य को सामान्य सार्वलौकिक संप्रेषण हेतु महत्वपूर्ण समझा।[34]

सार्वलौकिक साहित्य के उदाहरण से अन्य की धारणा के विकास और अन्य की दृष्टि से सार्वलौकिक साहित्य का मूल्यांकन उस समय तक अधूरा ही रहेगा, जब तक कि गेटे के अनुवाद विषयक सैद्धांतिक विचारों का आकलन नहीं किया जाता। गेटे अनुवाद के माध्यम से अन्य का समायोजन परिकल्पित करता है। यह बात सार्थक है कि गेटे ने अनुवाद विषयक अपने विचार 'दिवान' (Divan) में प्रस्तुत किये हैं, जहां वह उस अन्य अर्थात् पौर्वात्य, जिसने पश्चिम के इतिहास में प्रमुख भूमिका निभाई है, से अपने सम्बन्ध का विवेचन करता है।[35]

गेटे के अनुवाद के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है :

(1) सामान्य गद्यात्मक

(2) अनुसरणात्मक (Parodistic)

(3) समरुपात्मक (Identifying)

इनमें से प्रत्येक प्रकार अन्य से विशेष सम्बन्ध का परिचायक है :

"पहला प्रकार हमें अन्य का परिचय हमारी भाषा के अर्थ में देता है।"[36]

इस अनुवाद-प्रकार को सामान्य गद्यात्मक इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमें मूल पाठ का विश्व दृष्टि और हमारी विचार पद्धति में संस्थापन किया जाता है। इसमें मूल कृति के काव्यात्मक गुण उपेक्षित हो जाते हैं, यद्यपि यह इस रुप में भी हमें अपनी राष्ट्रीय एवं निजी जीवन पद्धति के बीच अन्य के प्रभूत गुणों को दिखा कर चकित करता है।[37]

अनुवाद का दूसरा प्रकार वह है जिसमें अनुवाद अन्य की अपनी परिस्थिति में स्वयं को रखने

की चेष्टा करता है, किन्तु वास्तव में वह अपने ही अर्थों में अन्य के अर्थ को समायोजित कर पाता है।[38] गेटे इस प्रकार के अनुवाद को परम उत्साही लोगों, विशेषतः फ्रेंच डेलिलस (Delilles) से जोड़ता है। वह कहता है, "फ्रेंच लोग सब काव्य-कृतियों का इसी विधि से अनुवाद करते हैं ... जैसे वे विदेशी शब्दों को अंगीकृत करते हैं, वैसे ही वे विदेशी वस्तुओं, विचारों और संवेगों को भी अपना लेते हैं। उनकी मांग रहती है कि सब विदेशी फलों का जोड़ हमारी भूमि में भी पैदा हो सकता है।"[39]

अनुवाद का तीसरा प्रकार गेटे को पूर्वोक्त दोनों प्रकारों की अपेक्षा अधिक प्रिय था और वह उसे सर्वोत्तम मानता था।[40] यह वह प्रकार है "जिसमें अनुवादक मूल कृति के समरुप अनुवाद करता है ताकि अनुवाद मूल कृति से अपनी वैधता प्राप्त नहीं करे, बल्कि वह मूल का स्थानापन्न बन जाये।"[41] किसी भी अनुवाद को हृदयंगम करने और मूल्यांकित करने में अनुवाद और अनुदित का सम्बन्ध निर्णायक होता है। गेटे प्रथम दो प्रकारों को इसलिए पसन्द नहीं करता, क्योंकि इनमें अन्य के विलोपन की संभावना है।

अन्य से सीधे गद्यात्मक सम्पर्क से यह सही है कि हमें अन्य की जानकारी प्राप्त होती है, किन्तु इस प्रकार के अनुवाद में अन्य की मूलभूत विशेषताएं दब जाती हैं और अनुवादक के सोच के अनुकूल अथवा उसकी विश्वदृष्टि के अनुसार अन्य का रुप उद्घाटित होता है। वस्तुतः अन्य पूर्णतः लुप्त होकर अनुवाद में समाहित हो जाता है।

अनुकरणात्मक अनुवाद प्रथम प्रकार से इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें अन्य के अधारभूत गुणों का ध्यान रखा जाता है, पर वह ध्यान स्थानापन्न शब्द की तलाश तक सीमित होता है। इसमें भी अन्य की पहचान अनुवादक के विचारगत तंत्र में लुप्त हो जाती है। यह सही है कि अनुकरणात्मक सम्बन्ध में अन्य सदैव उपस्थित रहता है, फिर भी वह उभर कर नहीं आता, क्योंकि वह अनुवादक की संस्कृति (प्रथम) में कमोवेश अन्वित नहीं तो समाहित अवश्य हो जाता है। प्रबोध काल के प्रमुख जर्मन लेखक वीलैण्ड (Wieland), जो अनुकरण मूलक अनुवादक भी थे, के विषय में गेटे ने कहा, "उसने प्राचीन और विदेशी संस्कृति को उसी हद तक स्वीकारा जिस हद तक वे उसके अनुकूल थीं।" अन्य के प्रति अनुकरणात्मक दृष्टि (approach) की सीमा यह है कि इसमें अन्य की अन्यत्व की पहचान नहीं रहती। उदाहरणतः क्लासिक फ्रेंच रंगमंच में अन्य को फ्रांसीसी स्वरुप दिया गया और अन्य के उन विशेष गुणों, जो फ्रांस के विधेयात्मक शिष्टाचार में अन्वित नहीं हो सकते थे, को अस्वीकार कर दिया गया।

अन्य की विशेषता को बनाये रखने के विषय में गेटे की इस स्पष्ट चिन्ता को देखते हुए यह आश्चर्यजनक नहीं लगता कि उसने उन सब विधियों से स्वयं को अलग रखा, जिसमें अन्य की विशेषता को गंभीरता से नहीं विचारा गया। इसीलिए वह अन्य से समरुपात्मक सम्बन्ध में अधिक रुचिशील रहा, क्योंकि समरुपता में अन्य और प्रथम की भिन्न भिन्न सत्ताएं रहती हैं। यह एक ऐसी दृष्टि है जिसमें प्रथम अन्य की ओर अग्रसर होता है, न कि अन्य प्रथम की ओर। इस प्रकार अन्य का प्रथम के सोच और कल्पना में रुपान्तरण नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत क्रिया होती है। प्रथम को ही अन्य के समरुप किया जाता है।

इस विधि से पैदा होने वाली कठिनाईयों के प्रति गेटे सजग है :

"प्रारंभ में इस विधि का अत्यधिक प्रतिरोध हुआ, क्योंकि यहां अनुवादक मूल पाठ से इतना

प्रतिबद्ध हो जाता है कि उसे अपने देश की मौलिकता से मुक्त होना पड़ता है।"[43]

अन्य से समरुपात्मक सम्पर्क का यह अर्थ नहीं है कि प्रथम को अन्य के स्तर पर संस्थापित किया जाये। इस विधि को समरुपात्मक (Indentifying) इसलिए कहा जाता है कि अन्य अनुवाद में भी अन्य ही बना रहता है। इसके अलावा अन्य के प्रति समरुपात्मक दृष्टि से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयां लेखक को ही नहीं होती पाठक को भी होती हैं, क्योंकि अनुवाद के रुप में एक ऐसी वस्तु रचित हो रही होती है, "जिसके लिए पहले पाठकों में रुचि का निर्माण किया जाना आवश्यक है।"[44] परिणामतः अन्य से समरुपात्मक सम्बन्ध-स्थापन के लिए अन्य सन्दर्भ में कहे गये यदि काण्ट के शब्दों का प्रयोग करें तो व्यक्ति को अपनेपन की संकुचित सीमा से, जिसके लिए वह स्वयं उत्तरदायी है, मुक्त करना आवश्यक है।[45]

उपर्युक्त का तात्पर्य स्वाभाविक है कि व्यक्ति की मौलिकता का सम्पूर्ण निराकरण नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर तो विशिष्टता का वह आधार ही प्रश्नांकित हो जायेगा, जो एक के दूसरे से सम्बन्ध के लिए अनिवार्य है। एक बार जब गेटे के सार्वलौकिक साहित्य की धारणा में अनुवाद कला के महत्व एवं मानवीय तथा सांस्कृतिक अंतस्सम्बन्ध की समझ में इसकी भूमिका को मूल्यांकित कर लिया जाता है तो सार्वलौकिक साहित्य की अवधारणा व्याख्यात्मक (hermeneutic) कोटि का एक नया आयाम ग्रहण कर लेती है। व्याख्या मूलत : अवबोध और व्याख्या की ही कला नहीं है, बल्कि अनुवाद-कला भी है। ग्रीस के मिथक में हर्मेज (Hermes) एक ऐसा संवादवाहक था जो ईश्वर और मनुष्यों के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाता था।

यह बात ध्यातव्य है कि गेटे के विचार से व्याख्या में जो पहले से ज्ञात है उसकी पहचान ही नहीं होती, जैसा कि अन्य से सरल गद्यात्मक सम्बन्ध में होता है और न इसमें अन्य से स्वानुकूलता और औचित्य की दृष्टि से सम्पर्क किया जाता है। इसमें वास्तव में व्यक्ति अपनी अस्मिता के तत्वों से पहले वियुक्त होता है ताकि अन्य को अन्य के रुप में पहचान सके। इस प्रकार की व्याख्या-प्रक्रिया के लिए मुझे वियुक्ति (estrangement) से अधिक सटीक कोई अन्य धारणा प्रतीत नहीं होती।

वियुक्ति की धारणा यहां मनोवैज्ञानिक नहीं है और न यह रुसी रुपवादियों के एक होने के अवबोध से सम्बद्ध है। ब्रेख्त की ऐतिहासिक और सामाजिक आलोचना में प्रयुक्त वियुक्ति (Verfrem dung)[47] से भी यह भिन्न है। सारतः यह अन्यत्व की धारणा है। अन्य को समझने की चेष्टा आधारतः यह मांग करती है कि जिज्ञासु व्यक्ति स्वयं निज से वियुक्त होकर अपने लिए ही विदेशी हो जाता है।

सार्वलौकिक साहित्य के व्याख्यापरक प्रत्यय को गेटे ने अनुवादकला के माध्यम से ही नहीं स्पष्ट किया है, बल्कि उसने अन्य को समझने की स्थितियों पर भी विचार किया है। वियुक्ति, जिस पर गेटे ने विचार किया है, विदेशी कथ्यों के स्वानुकूलन से ही नहीं आती, बल्कि इसे प्राप्त करने के लिए रुप (Form) का भी अनुकूलन करना होता है। क्योंकि इसके लिए अपनी भाषा के नियम, रचना -प्रक्रिया, रुपक, छन्द और आलंकारिक रुपों का अतिक्रमण कर विदेशी भाषा के इन तत्वों को आत्मसात् करना होता है। गेटे पौर्वात्य मानक ग्रंथों के वॉन हाम्मेर द्वारा किये गये अनुवादों की प्रशंसा करते हुए कहता है कि बाहरी रुपों (Forms) का सम्यक् अनुकरण अनुशंसनीय है। हाम्मेर द्वारा किये गये फिरदोसी के अनुवाद, फुण्टग्रुबेन[49] में सम्मिलित अनुवाद कितने बेहतर हैं, यह द्रष्टव्य है।

गेटे के अनुसार भाषिक नियम ही निर्धारक नहीं होते। उदाहणार्थ जब किसी कविता का जर्मन

भाषा में अनुवाद किया जाये तो इससे उत्तर-पूर्वी जर्मन लोगों के कानों को इआयम्बिक पेन्टामीअर छन्द से सुख देना आवश्यक नहीं है, बल्कि वस्तुतः उन लोगों की कलात्मक अपेक्षाओं को अवरुद्ध करना है।[50] अनुवाद वस्तुतः अन्य को माध्यम बनाकर पाठक में तत्सम्बद्ध ज्ञान पाने और सीखने की प्रक्रिया को विकसित करने की एक विधि है। स्वयं की मौलिकता से मुक्ति के लिए स्व का बोध नहीं, विस्मृति तथा स्व से संलग्नता नहीं, वियुक्ति आवश्यक है। जर्मन वॉस के समरुपात्मक निबन्धों की चर्चा करते हुए गेटे ने कहा है :

"वॉस, जिसकी श्रेष्ठता कभी भी बहुत अधिक नहीं आंकी जा सकती, प्रारंभ में लोगों को सन्तुष्ट नहीं कर सका। लोगों के कान धीरे-धीरे इस नई शैली के अभ्यस्त हुए। लेकिन उसने जो कार्य किया आज उसे सहज ही व्यक्ति समझ रहा है। इस कार्य से जर्मन लोगों ने कितनी बहुज्ञता प्राप्त कर ली है। आज मेधावी व्यक्ति के लिए अलंकारिक, छान्दिक एवं लयात्मक लाभदायक क्षेत्र खुल गये हैं। आज किस प्रकार अरिओस्टो, टासो, शेक्सपीयर, और काल्डेरोन हमें दो या तीन भिन्न भिन्न प्रकार से जर्मनीकृत अन्य के रुप में उपलब्ध हैं। इससे वॉस का यह अधिकार बनता है कि साहित्यिक इतिहास में उसका नाम उस प्रथम व्यक्ति के रुप में अंकित होगा, जिसने अनेक बाधाओं के बावजूद ऐसा महत् कार्य किया।"[51]

कवि अथवा अनुवादक इस प्रकार "वियुक्ति का कलाकार" बन जाता है, जो अपनी मौलिकता से दुखद अलगाव पैदा करता है और उतनी त्रासद स्थिति तब होती है जब वह अन्य की मौलिकता में प्रवेश करता है। उपर्युक्त द्वितीय प्रकार अनुकरणात्मक विधि से भारतीय काव्य "शाकुन्तलम्" के अनुवाद के विषय में गेटे की जो आशा थी उसे उसने इस प्रकार व्यक्त किया है :

"अब समय आ गया है कि इसका अनुवाद तृतीय (समरुपात्मक) विधि से किया जाये ताकि मूल की विभिन्न गद्यात्मक, छान्दिक, लयात्मक और भाषागत समरुपता स्थापित हो सके और हम कविता का उसकी निजी विशिष्टता के साथ आस्वाद कर सकें।" [52] "दीवान" से उद्धृत ये शब्द गेटे के अन्य परक प्रत्यय से अपनी सम्बद्धता, अनुवाद और सार्वलौकिक साहित्य का सम्बन्ध और उन काव्यात्मक खण्डों की आवश्यकता को व्यक्त करते हैं और 'दीवान' की रचना का यही आधार है। इसीलिए 'दीवान' को पढ़ते समय अरबी साहित्य में रुचिशील जर्मन लोगों को अरबी में ही कविता पढ़ने जैसा भ्रम होता है। इस तथ्य से गेटे की अन्य से अनुकूलन करने की क्षमता भी प्रकट होती है।

हम यह पहले ही देख चुके हैं कि गेटे ने अंतस्सांस्कृतिक सन्दर्भ में एक के दूसरे से सम्वाद पर बल दिया था। इस प्रकार गेटे ने सार्वलौकिक साहित्य के माध्यम से सामाजिक वर्ग की संभावना देखी थी। वह अन्य के प्रति पूर्वाग्रहों से लड़ना चाहता था। इसीलिए गेटे ने मदाम दि स्टेल (Madam de stael) की पुस्तक द अलेमान (De Allemagne) की अंतस्सांकृतिक महत्ता का निदर्शन किया : "जर्मनी पर लिखित इस पुस्तक को उन पूर्वाग्रहों को जो फ्रांस को जर्मनी से अलग करते हैं चीन की दीवाल में दरार पैदा करने वाला प्रभावी हथियार माना जाना चाहिए।"[53]

गेटे के सार्वलौकिक साहित्य के संप्रेषणात्मक स्वरुप का जैसा निदर्शन मैंने किया है, उससे सामाजिक और साहित्यिक स्थितियों के बदलाव पर उसके विचार स्पष्ट होते हैं। उसका यह विश्वास भी प्रकट होता है कि सार्वलौकिक साहित्य की अभी शुरुआत ही हुई है। उसने सार्वलौकिक साहित्य की घोषणा की, और साहित्यकारों से इसे विकसित करने की अपील भी की। इन सब तथ्यों से यह बात साफ होती है कि सार्वलौकिक साहित्य एक प्रायोजन है : भविष्य के लिए कार्यक्रम है। ऐसी

स्थिति में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस साहित्य का प्राचीन साहित्य से भी कोई सम्बन्ध है या नहीं तथा अन्य का यह आयाम गेटे द्वारा चर्चित साहित्यिक परम्परा से भी क्या श्रृंखलित हो सकता है।

(3) सार्वलौकिक साहित्य के ऐतिहासिक प्रत्यय में अन्य

अब यह देखना महत्वपूर्ण है कि गेटे ने सार्वलौकिक साहित्य के अंतस्सांस्कृतिक मूल्य एवं महत्व को जीवन के अंतिम काल में पहचाना था या बहुत पहले से वह इस विषय पर विचार कर रहा था और 1820 के आसपास की अपनी कृतियों में इसे उसने अवधारणा के रुप में प्रतिपादित किया। यह भी ध्यातव्य है कि गेटे ने सार्वलौकिक साहित्य के अंतस्सांस्कृतिक प्रत्यय को नियामक का स्तर दिया अथवा उसने इसे एक स्थापित तथ्य के रुप में गृहीत किया अथवा उसने इसमें लम्बे समय से चले आ रहे एक ऐतिहासिक यथार्थ को लक्षित किया। यह प्रश्न उसके **ग्रंथ कॉलोके सिआंती फीक द बर्लीन** में विवेचित हुआ है।

हम उस पाठ [54] से परिचित हैं। इसमें सार्वलौकिक साहित्य के तीन मूल भूत आयाम हमें दिखाई देते हैं :

(1) बृहद् आयाम (सामान्य सार्वलौकिक साहित्य)

(2) संप्रेषणात्मक आयाम (राष्ट्र एक दूसरे को समझे और लेखक गण सामाजिक क्षेत्र में सामूहिक कर्म करें)।

(3) ऐतिहासिक आयाम (सार्वलौकिक साहित्य लम्बे समय से विद्यमान रहा है)।

सार्वलौकिक साहित्य पर गेटे के आलेख के विहंगावलोकन मात्र से यह लक्षित हो जाता है कि ये तीनों आयाम अलगाये नहीं जा सकते। ये समन्वित पूर्णता की रचना करते हैं। उदाहरणार्थ, ऐतिहासिक आयाम में संप्रेषणात्मक आयाम संलग्न है क्योंकि गेटे के अनुसार भिन्न भिन्न देश सदैव से एक दूसरे की साहित्यिक कृतियों से परिचित रहे हैं। उधर संप्रेषणात्मक आयाम ऐतिहासिक दृष्टि से युक्त होता है, क्योंकि प्रत्येक साहित्यिक युग अपनी नयी अपेक्षाएं सार्वलौकिक साहित्य के सम्मुख प्रस्तुत करता है। गेटे के काल में यह प्रमुखतः लेखकों का सामाजिक संवाद-रुप था। अंततः, बृहद् आयाम वह परिस्थिति प्रस्तुत करता है, जिसमें सार्वलौकिक स्तर पर अंतस्सांस्कृतिक संप्रेषण संभव हो सके।

हमने सार्वलौकिक साहित्य के बृहद् आयाम और संप्रेषणापरक आयाम का विवेचन पहले ही कर लिया। जो शेष है वह ऐतिहासिक आयाम है, जिसके स्थायित्व, विकास और नवीकरण को गेटे ने प्रतिपादित किया है। इस ऐतिहासिक आयाम में अन्य विषयक समस्या का विश्लेषण भी आवयश्क है, क्योंकि गेटे ने विभिन्न देशों और संस्कृतियों के आदान-प्रदान को उक्त साहित्यिक परंपरा का प्रमुख लक्षण माना है। जैसा हमने पहले संकेत किया है कि यदि गेटे के काव्य सर्जन ने सार्वलौकिक साहित्य के इस ऐतिहासिक स्वरुप में जर्मन साहित्य और अन्य विदेशी साहित्य में मध्यस्थ की भूमिका निभाई है, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके साहित्यिक सर्जन के बहुत से विषयों और रुपों का मूल केवल एक (अर्थात् यूरोप)की परंपरा में ही नहीं रहा, बल्कि अन्य। विदेशी परंपरा की भी उनकी उद्भावना में देन रही है। परिणामतः हमें परंपरा को भूत और वर्तमान के बीच अंतष्क्रिया की दृष्टि से ही नहीं देखना चाहिए। इसे हमें स्व की पहचान रचने वाली एक एवं अन्य की परस्पर प्रभाव-प्रक्रिया की दृष्टि से भी समझना चाहिए। परंपरा से साक्षात्कार की यह प्रक्रिया कवि और आलोचक में निज से

वियुक्ति की सबल अपेक्षा रखती है। परंपरा का मार्ग तभी मूल्यवान सिद्ध हो सकता है जब आवश्यक द्विविध वियुक्ति सिद्ध कर ली जाये ; पहली वियुक्ति परंपरा से सम्बद्ध है, जिसमें वर्तमान की अपेक्षाओं पर ध्यान दिया जाता है, और दूसरी वियुक्ति में अन्य की प्रतिबद्धताओं को दृष्टिगत रखा जाता है। अपनी परंपरा को इस संभावना के साथ देखना कि यह वर्तमान और भविष्य के सन्दर्भ में परायी लग सकती है, अपनी सांस्कृतिक विरासत में अन्य की पहचान के लिए आवश्यक है।

हम भली प्रकार जानते हैं कि गेटे का अपनी परंपरा के प्रति आलोचनात्मक रुख रहा। उसका इसकी उत्कृष्टता में अन्धविश्वास नहीं था। इस पर उसके इन प्रसिद्ध शब्दों को हम याद करते हैं :

"वह व्यक्ति जो भूतकाल से ही जुड़ा रहता है अंततः प्रेत को छाती से चिपकाये हुए होने का खतरा मोल लेता है। ऐसा भूतकाल हमारे लिए शुष्क हुई ममी अथवा (शव) के समान है।"

"लेकिन व्यतीत के प्रति यह लगाव क्रांतिकारी परिवर्तन को बाधित करता है। ऐसा परिवर्तन जिसमें नये की प्रगति को न तो पीछे धकेला जा सकता है और न पूरी तरह अधीन किया जा सकता है। इसलिए यह परिवर्तन पूर्णतः अलगा जाता है। यह भूतकाल के गुणों को पहचानना नहीं चाहता और इस प्रकार अपनी उपलब्धियों का उपयोग नहीं करता।"[56]

यद्यपि गेटे ने पूर्वजों के अनुसरण पर सदैव बल दिया। उसके अनुसार उनके उदाहरणों का अनुसरण वांछनीय है:

"हम पूर्वजों के अध्ययन की बात करते हैं। लेकिन इसका अर्थ इसके सिवा क्या है कि हम यथार्थ जगत की ओर मुखातिब हों और उसे अभिव्यक्त करने की चेष्टा करें ? यही तो हमारे पूर्वजों ने अपने जीवन काल में किया था।"[57]

ये विचार अपने ऐतिहासिक संदर्भ में 'क्रांतिकारी' अवश्य थे क्योंकि ये मध्ययुग [58] की ओर उन्मुख करने वाली रोमांटिक प्रवृत्तियों का विरोध करते थे और ये सही भी हैं। फिर भी, ये अन्य विषयक समस्या के समाधान के लिए महत्वहीन थे। बावारिया के आंतरिक मंत्रालय में उच्च पदस्थ दार्शनिक फीडरिख जे. नीठाहाम्मेर की आलोचना करते हुए सब परम्पराओं के सम्बन्धों के विषय में गेटे ने जो विचार प्रस्तुत किये उनके लिए भी पूर्वोक्त कथन सही नहीं प्रतीत होता। बावरिया-सरकार के निर्देशानुसार नीठाहाम्मेर लोकप्रिय पुराकथाओं का जर्मन भाषा में संकलन तैयार करना चाहता था। इस कार्य के लिए उसे सर्वप्रथम गेटे के समर्थन की आवश्यकता थी। उसने अपनी योजना, जो विशुद्ध राष्ट्रवादी थी, गेटे को भिजवायी। गेटे ने तत्काल प्रतिक्रिया व्यक्त की। उसने निम्नलिखित सिद्धान्त पर बल देते हुए नीठाहाम्मेर को लिखा : "अपने सत्व के साथ साथ जो उपयुक्त है उसे भी मस्तिष्क में रखा जाना चाहिए: अनुवाद या अन्य ऐसी क्रिया से कहीं अनुवाद्य अपना तो नहीं हो जाता है"[59]

अन्य को परित्यक्त करने की दृष्टि से निजी और अन्य में पैदा किये जाने वाले अलगाव को गेटे ने गलत और खतरनाक माना। उसे यह चेष्टा गलत इसलिए लगी क्योंकि इससे परंपराओं की विविधता पर प्रश्न चिह्न लगता था। वह इसे खतरनाक इसलिए मानता था कि इससे विदेशी के प्रभाव से मुक्त एक 'सम', 'शुद्ध', 'विशिष्ट' और 'स्वतंत्र' अस्मिता के मिथक की उद्भावना की जा रही थी। इस प्रकार की स्थिति अंतरसांस्कृतिक संवाद के लिए सहायक नहीं थी। नीठाहाम्मेर को अपने उत्तर में गेटे ने कहा :

"वस्तुतः विदेशों के गुणों को भी दर्शाया जाना चाहिए, क्योंकि संकलन बच्चों के लिए तैयार किया जा रहा है। इन बच्चों का ध्यान विदेशों के गुणों की ओर आकर्षित किया जाना चाहिए।"[60]

गेटे का मत था यह आवश्यक है कि लोगों को यथाशीघ्र अन्य (विदेश) का उसकी विशिष्टता के साथ ज्ञान करवाया जाये ताकि जब कोई व्यक्ति निजी परंपरा को ऐतिहासिक दृष्टि से स्पष्ट करने का प्रयत्न करे तो वह सांस्कृतिक रुप में पूर्वतः समायोजित अन्य को भी समझ सके। इस प्रकार गेटे ने निजी ज्ञान और अन्य ज्ञान में द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध की उद्भावना की, जो उसके सोच की अपनी विशिष्टता है। कवि का इस प्रकार का निजी वर्तमान उसे निर्जीवीकरण की मानसिकता से बचाता है और अन्य के वर्तमान का विचार उसे धोखा देने वाले उस अन्ध विश्वास से सुरक्षित करता है, जिसमें निज की 'विशिष्टता', 'शुद्धता' और 'अलगाव' के समर्थन की प्रवृत्ति होती है।

इस सन्दर्भ में अन्यत्व का प्रत्यय दोहरा अर्थ ग्रहण कर लेता है : प्रथमतः व्यक्ति के अपने ही गुण अनजान हो जाते हैं और द्वितीयतः भिन्न परंपरा के गुण उन निजी गुणों में प्रविष्ट होते हैं। अन्य की अस्मिता का विचार भी दोहरा अर्थ प्राप्त करता है : इसमें प्रथम उपलब्ध अन्य के तत्त्व संलग्न होते हैं और दूसरे, अन्य के वे तत्त्व भी जिन्हें प्रथम ने समायोजित कर लिया है। इस योजना में जिस वस्तु पर ध्यान नहीं दिया जाता है वह यह है कि अन्य, जो अपने विशेष गुणों के कारण प्रथम से पराया है, की अवहेलना नहीं की जाती है। हम देख चुके हैं कि गेटे इस तथ्य पर विशेष ध्यान देता है। यही कारण है कि गेटे का विचार वह परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है जिसके बिना अन्य के प्रति दृष्टि की आधारशिला का निर्माण नहीं किया जा सकता।

इस विवेचन के पश्चात् हम रोमांटिक लेखकों और गेटे को विभक्त करने वाले अंतर को समझ सकते हैं। उसने अन्य को स्वयं में साध्य नहीं मानने और मात्र साधन मानने के लिए उनकी भर्त्सना की। फ्रीडरिख श्लेगल की "भारतीयों की भाषा और ज्ञान" नामक पुस्तक के प्रकाशन के समय गेटे ने राइनहार्ड को लिखा कि पुस्तक में "शिलेगेल ने जिन बातों का निदर्शन किया है, उसने उनका उपयोग, अपने सुनिश्चित विश्वासों को जनता के समक्ष प्रतिपादन और स्वयं को एक प्राचीन सिद्धान्त के सन्देश वाहक सिद्ध करने के लिए किया है।" [61] गेटे के मत से शिलेगेल इस प्रकार से "कस्बे के मकान के सब परदे और दरवाजे बन्द कर प्रकाश को अवरुद्ध करता है और एक अंधकार मय स्थल रचित करता है, एक छोटे से रोशनदान से ही आवश्यक प्रकाश आने देता है।"[62]

ऐसी स्थिति में अन्य उद्भासित होने की बजाय छिप जाता है, जब अन्य की ओर गमन निज से मुक्ति पैदा नहीं करता, बल्कि अबौद्धिकता का खेल खेलता है। गेटे इस स्थिति में सार्वलौकिक साहित्य के विचार का निरसन मानता है। मध्य युगीन जर्मन परंपरा, जिसमें प्रभूत रोमांटिक विचार धाराएं सक्रिय थीं जो मानती थीं कि रोमांस के प्रभावों से स्वयं को मुक्त कर लिया है, के सहारे को भी गेटे सार्वलौकिक साहित्य के विचार के लिए अनुपयुक्त मानता है।

गेटे ने परपंरा के बहु आयामी स्वरुप का समर्थन किया। इस स्वरुप का रोमांसवादी संस्कारों से विरोध था। गेटे और रोमांटिकों का दृष्टिकोणगत अंतर उनके निबेलुंगेन (Nibelungen) पर हुए परस्पर विचार-संघर्ष में प्रकट हुआ है। रोमांटिक परंपरा की प्रवृत्ति निबेलुंगेन महाकाव्य को जर्मन और ईसाई मूल का घटित करने की रही है, जबकि गेटे का मत था कि इस महाकाव्य की जनकथा के प्रमुख प्रकारण मूल रुप में पूर्णतः नौर्डिक और पैगन हैं। यह दूसरी बात है कि उनका विकास जर्मन परंपरा और उनका प्रयोग ईसाई धर्मानुसार हुआ है।[63]

रोमांसवाद से गेटे के इस विवाद से हमें यह विश्वास नहीं करना चाहिए कि गेटे मध्य युग से द्वेष रखते थे। इसके विपरीत 'गेटे ने जर्मन वास्तुकला' जैसे अपने ग्रंथों में इस युग के विषय में

उत्साहवर्द्धक चर्चा की है। फिर भी मध्ययुग की रोमांसवादी राष्ट्रीयता की प्रवृत्तियों से उसने घोर संघर्ष किया, क्योंकि ये प्रवृत्तियाँ अन्य का समायोजन करती थीं। उसके अनुसार काव्य-सृजन का मूल निज एवं अन्य तथा भूत एवं वर्तमान के बहु विध विभिन्न स्त्रोतों से उपलब्ध वस्तुओं में निहित होता है। इसे एक मात्र स्त्रोत, चाहे उसे कितना ही उपयुक्त माना जाये, तक ही सीमित नहीं किया जा सकता।

गेटे का सामूहिक अस्तित्व (Collective being) का विचार इस सन्दर्भ में बड़ा रोचक है। अपनी मृत्यु के कुछ समय पूर्व 17 फरवरी 1832 को एकरमान के साथ वार्तालाप में गेटे ने इस सामूहिक अस्तित्व के विचार को विकसित किया। उसके अन्य विषयक अर्थ को समझने के लिए यह विचार इतना महत्वपूर्ण है कि मैं इसे विस्तार से उद्धृत कर रहा हूँ :

मुख्यतः हम सब सामूहिक अस्तित्व हैं.... सही अर्थ में, वह कितना कम और तुच्छ है जिसे हम अपनी सम्पदा कह सकते हैं। हमें अपने पूर्वजों और समकालीनों से सीखना चाहिए और लेना चाहिए। बड़े से बड़ा प्रतिभावान व्यक्ति भी अधिक उन्नति नहीं कर सकता, यदि वह अपने ही संसाधनों पर निर्भर रहता है। फिर भी बहुत से अच्छे लोग इस तथ्य को नहीं समझना चाहते और अपनी आधी जिन्दगी मौलिकता के सपनों को अंधेरें में तलाशते गुजार देते हैं। मैं ऐसे कलाकारों को जानता हूं जो यह शेखी बघारते हैं कि उन्होंने किसी गुरु का अनुसरण नहीं किया है और उनका सृजन उनकी प्रतिभा की ही देन है। मूर्ख ! जैसे कि ऐसा संभव होता है मानो कि प्रत्येक पग पर जगत को उन पर लादा न गया हो और उनकी मूर्खता के बावजूद उनको कुछ मूल्यवान दिया गया हो। पूरी विनम्रता के साथ अपने बारे में जो मैं सोचता हूँ वह कहता हूँ। यह सही है कि अपने दीर्घ जीवन काल में मैंने एकाधिक रचनाएं लिखी हैं जिनको लेकर मै गर्वोक्ति कर सकता हूँ। लेकिन यदि हम ईमानदार बनें तो वास्तव में मैंने जो अपने लिये किया वह है देखने, सुनने, समझने, चुनने का और अपनी योग्यता और उत्साह से जो कुछ मैंने देखा-सुना है उसे अपनी प्रतिभा की मदद से संजीवित करने का कार्य। मैं अपने कृतित्व के लिए अपनी विद्वत्ता का ऋणी नहीं हूँ, बल्कि मुझसे बाहर हजारों वस्तुओं और व्यक्तियों का ऋणी हूँ जिन्होंने मुझे कृतित्व हेतु सामग्री प्रदान की। ...और इस प्रकार दूसरों के द्वारा मेरे लिए बोई गई फसल को काटने और बटोरने के अलावा मुझे कुछ नहीं करना पड़ा। यह प्रश्न करना मूर्खता है कि व्यक्ति के पास जो कुछ भी है वह स्वजन्य है या दूसरों से लिया हुआ है। सारभूत तथ्य यह है कि व्यक्ति के पास एक सबल चाह होनी चाहिए, उसे सहिष्णु और प्रवीण होना चाहिए ताकि वह देखे हुए को मूर्त कर सके। बाकी सब बातें तुच्छ हैं।"[64] लेखक के ये शब्द चाहे उसकी विनम्रता में कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण लगें या वृद्ध होते हुए कवि की शुभेच्छा से अनुप्रेरित विचार लगें, तो भी गेटे के सार्वलौकिक साहित्य और अन्य विषयक प्रत्यय के लिए ये महत्वपूर्ण और बहुविध अर्थवत्ता से युक्त हैं। ये शब्द अन्य के पक्ष में सुनिश्चित एवं सुदृढ़ तर्क के रुप में अवधार्य हैं।

4. गेटे की अन्य विषयक अवधारणा की पुनर्रचना

अन्य विषयक प्रश्न और सार्वलौकिक साहित्य के माध्यम से अन्य की समस्या के हमारे अनेक विध अध्ययन से, मेरी आशा है, सार्वलौकिक साहित्य के दों प्रत्ययों को व्यवस्थित रुप में विकसित एवं गृहीत करने में सहायता मिली है। अब यह आवश्यक प्रतीत होता है कि गेटे के अन्य विषयक प्रत्यय

की स्पष्टतः पुनर्रचना की जाये।

अन्य के प्रश्नों और समस्याओं पर गेटे के विचार को हम तीन बिन्दुओं में बांट सकते हैं :

(1) शर्तें

(2) दृष्टि के लिए आधार विधि और माध्यमीकरण

(3) उद्देश्य

1) सांस्कृतिक अन्यत्व का ज्ञान और पहचान - अन्य के प्रति दृष्टि और उससे संवाद बहुत सी शर्तों पर निर्भर हैं। सर्वप्रथम, सिद्धान्ततः यह निष्ठा होना आवश्यक है कि सब मनुष्य समान हैं और उनकी साहित्यिक तथा कलात्मक कृतियां मूल्यवान होती हैं। गेटे के लिए यह सिद्धान्त की बात थी कि ऐसे देश नगण्य हैं जो पूर्ण मौलिकता का दावा कर सकते हैं।[65] अंततः यह स्वयं से प्रश्न करने तथा अपनी पहचान और परंपरा के प्रति आलोचनात्मक रुख रखने की योग्यता और आकांक्षा का मुद्दा है। ज्यों-ज्यों स्व से आलोचनात्मक दूरी बढ़ेगी, त्यों-त्यों हमारे अवबोध हेतु अन्य का विस्तृत क्षेत्र खुलता जायेगा। गेटे ने इस स्थिति के तथ्यों का सम्पूर्ण खुलासा सामूहिक अस्तित्व के विवेचन में किया है। अन्य से संवाद की पहली शर्त है कि अपनी मौलिकता की भावना से छुटकारा पाया जाये, दूसरे की विशिष्टता को पहचाना जाये और परस्परता के सिद्धान्त की रक्षा की जाये।

2) दृष्टि का आधार एवं अन्यत्व का माध्यमीकरण एवं अनुवाद उक्त शर्तों पर निर्भर करते हैं। गेटे, जो सार्वलौकिक साहित्य और अन्य के प्रकरण में अनुवाद को महत्वपूर्ण स्थान देता है, दृष्टि, माध्यमीकरण तथा अनुवाद के तीन प्रकारों का वर्णन करता है : यथा गद्यात्मक, अनुकरणात्मक और समरुपात्मक। वह तीसरे प्रकार को श्रेष्ठ समझता है, क्योंकि इसमें अन्य प्रथम के पास नहीं आता, बल्कि प्रथम अन्य के पास जाता है, जिससे अन्य की विशिष्टता पूरी तरह सुरक्षित रहती है। अनुवाद के पाठक को ध्यान में रखते हुए व्याख्याता अनुवादक को चाहिए कि वह अन्य के रुप और सार के स्तर से घनिष्ठतः संपृक्त हो।

3) अंत में गेटे उद्देश्यों को अत्यधिक महत्व देता है। सबसे पहला उद्देश्य अन्य के अंतस्सांस्कृतिक एवं सामाजिक कार्य को दिखाना है। संस्कृतियों की पारस्परिक संवृद्धि के अतिरिक्त सामाजिक दृष्टिकोणों यथा दूसरे के प्रति सहिष्णुता एवं सद्भावना आदि, के निर्माण में भी महत्वपूर्ण भूमिका है। सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक अलगाव के इस माहौल में सब देशों के लेखकों के सीधे संवाद से अंतस्सांस्कृतिक एक जुटता पैदा की जानी चाहिए। अन्य की ओर गमन से गेटे मनुष्य की सामाजिक शिक्षा को ही समृद्ध नहीं करता, बल्कि उसके कलात्मक अवबोध को भी उत्कृष्ट बनाता है। कानों और इन्द्रियों को अच्छी लगने वाली बातें मनुष्य को अपनी कलात्मक मौलिकता से मुक्त नहीं करती, बल्कि जो अप्रत्याशित हैं वे उसे मुक्त करती हैं। अन्य को उसकी सांस्कृतिक स्वान्तरता और अंतष्क्रिया के धरातल पर उसकी सापेक्ष समझ एवं व्याख्यापरक अवबोध के लिए सार्वलौकिक साहित्य की यह अवधारणा नया मार्ग प्रशस्त करती है। इस प्रक्रिया का उद्देश्य एवं गन्तव्य निजी 'मौलिकता' से मुक्ति है। इस प्रकार एक वृत्त बनता है जो मौलिकता से शुरु होता है और मौलिकता में ही पर्यवसित हो जाता है।

सन्दर्भ-सूची

1. आर. ईटिम्बल ने 'Faut-il reviser la notion de weltliteratur' Acta AILC congress; La Hage Paris 1966, पृ. 5-16 में सार्वलौकिक साहित्य के पुस्तकालयों की विस्तृत आलोचना की है। इस लेख से भिन्न इसके जर्मन संस्करण में मैंने तद्विषयक संकलनों, कोषों और सार्वलौकिक साहित्य की व्याख्या हेतु कुछ पृष्ठों में विवेचन किया है। हमारी शोध से यह बात प्रकट हुई है कि उक्त ग्रंथों में साहित्य पूर्णतः यूरोप केन्द्रित ही दिखाई देता है।
2. 'मूल्यवान् साहित्य सार्वलौकिक साहित्य के समकक्ष है' फ्रांसुआ जोस्त ने लिखा है "Litterature Comparee et litterature universele" Orbis litterarum XXVII, 1972, पृ. 13-27
3. गेटे, Hamburger Ausgabe (HA) XII पृ. 352
4. वही.,
5. वही.,
6. स्ट्रेकफुस को पत्र, जनवरी 27, 1827,वही पृ.362
7. आइकेन को पत्र, फरवरी 23, 1826, Goethe-Jahrbuch, 33, 1971.
8. HA, XII, पृ. 364.
9. वही., पृ. 363.
10. वही.,
11. Goethe-Jahrbuch पृ. XVI
12. HA, XII, पृ. 364.
13. वही., पृ. 352.
14. वही., पृ. 353.
15. Goethe-Jahrbuch पृ. XVI
16. वही.,
17. Eckermann, op.cit. पृ. 158.
18. वही., पृ. 156.
19. वही., पृ. 158.
20. वही.,
21. देखिए Fritz Strich, Goethe und die Weltliteratur, Berne, Francke, 1946; Hans Reiss, Goethe und die Tradition, Frankfurt, Athenaum, 1972.
22. HA, XII, पृ. 352.
23. वही., पृ. 353.
24. वही.,
25. वही., पृ. 364.
26. Eckermann, op.cit, p. 182.

27. वही.,
28. Goethe-Jahrbuch, op.cit. p. XVI
29. Goethe, Berliner Ausgalbie, Vol. 18, पृ. 427. et seq.
30. HA, XII, पृ. 363.
31. HA, Briefe 4 पृ. 277.
32. HA, XII, पृ. 363.
33. वही.,
34. वही., पृ. 353.
35. देखिए S.H. Abdel-Rahim, Goethe und der Islam, Augsburg, Werner Blasaditsch, 1969.
36. Goethe, Divan, op.cit., पृ. 430 (HA, II, p. 255).
37. वही., पृ. 431 (HA, II p. 255).
38. वही.,
39. वही.,
40. Goethe, Divan, op.cit., p. 431.
41. वही., (HA, II, p. 256).
42. वही.,
43. वही., पृ. 431.
44. वही., पृ. 432.
45. Response a la question : quest-cel' "Aufklarung" नामक प्रबन्ध में काण्ट लिखता है "यह मनुष्य की अपनी स्वनिर्मित अल्पसंख्यकता से मुक्ति है।"
46. देखिए Theorie de la litterature, Todorov ed., Paris, Seuil, 1965.
47. देखिये Bernard Dort, Lectures de Brecht, Paris, Seuil, 1950.
48. देखिये Fawzi Boubia, Die Verfremdung der verfremdung, Informationen, 1986.
49. Goethe, Divan, op.cit., 432 (HA, II, p. 256).
50. वही., पृ. 257.
51. वही., पृ. 256.
52. वही., पृ. 257.
53. Goethe, Tag und Jahreshefte, HA, X, पृ. 266.
54. पूरा पाठ इस प्रकार है, "यदि हमने यूरोपीय, वास्तव में, सामान्य सार्वलौकिक साहित्य की उद्घोषणा का साहस किया है तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि विभिन्न देशों और उनकी कृतियों का परस्पर सार्वलौकिक परिचय मात्र ही हो, क्योंकि इस अर्थ में तो सार्वलौकिक साहित्य बहुत पहले से विद्यमान रहा है और स्वयं का नवोन्मेष करता रहा है। नहीं, यहां यह प्रश्न है कि जिन्दादिल साहित्यकार एक दूसरे से परिचित होकर सामाजिक रुप में क्रिया शीलता के कर्तव्य का निर्वाह करें।" H.A. XII p. 363.

55. वही.,
56. Goethe, uber Kunst und Altertum, II 20, (1820).
57. Eckermann, op.cit., Jan. 29, 1826 पृ. 158.
58. गेटे और रोमांसवाद विषय पर देखिए Helmut Brackert "Die Bildungsstufe der nation" Reiss, op. cit., पृ. 84-101.
59. HA, XII, पृ. 286.
60. वही.,
61. राइनहार्ड को पत्र, जून 22, 1808 (HA, Briefe, पृ. 77).
62. वही., पृ. 78.
63. Briefe to Eichstadt, Oct. 31, 1807.
64. Eckermann, op.cit. पृ. 536.
65. HA, XII, पृ. 286.

--*-*-*-*-*-*

जीव विज्ञान एवं चिकित्साशास्त्र में चिन्तन की विधा*

ज्यां हामबुरगर

स्विस मनोवैज्ञानिक ज्यां प्याजे ने अपना जीवन बालाकों में चिन्तन प्रक्रिया के विकास के क्रमिक अध्ययन में बड़े मनोयोग से लगाया। इस विकास की क्रमिक अवस्थाओं में बालक के जगत के प्रति दृष्टिकोण के स्वरुप में परिवर्तन होता रहता है। इसी प्रकार विकास की अपनी अति आरम्भिक अवस्था से चिकित्साशास्त्र ने प्राणियों के क्रमशः विभिन्न रुपों में उत्पन्न होने वाली अवस्थाओं को देखा। यह सच है कि चिकित्साशास्त्र की क्रमिक अवस्थाऐं एक दूसरे से अलग नहीं हैं, फिर भी यह सम्भव है कि कोई, बात के उस प्राचीन ढंग का प्रयोग कर रहा हो जिससे, यह सम्भव है, कि दूसरे ने साहसपूर्वक अपने को मुक्त कर लिया है। तथापि इस विश्लेपण की स्पष्टता के लिये मैं क्रमिक ज्ञानमीमांसायी अभिवृत्तियों को ऐसे परिभाषित करने का प्रयास करुंगा जैसे कि वे चिकित्साशास्त्रीय चिन्तन की प्रगति की द्योतक हों।

वे जिन्होंने निरीक्षण के बिना विचार किया और वे जिन्होंने विचारहीन निरीक्षण किया

मानव और उसकी व्याधियों को समझने के लिये प्रथम तात्कालिक प्रयासों की कहानी अति प्राचीन युग में ले जाती है। सुमेरवासियों को निप्पुर में पाई गई पट्टी निस्संदेह चिकित्साशास्त्र का प्राचीनतम ज्ञात लेख है जो कि सम्भवतः 2300 ईसा पूर्व का माना जाता है। प्रारम्भ से ही विचार की दो दिशाओं की चिकित्साशास्त्रीय घटना को देखने की दो भिन्न पद्धतियां रही हैं।

एडविनस्मिथ का मिस्त्री पापीरस (श्रीपत्र) तथा ऐवर्स का भी लगभग 1500 ईसा पूर्व का है। परन्तु प्रथम पर अनुभववाद की गहरी छाप है। यह वही वर्णन करता है जो वह देखता है; यह एक शिल्पी का काम है। इसके विपरीत दूसरा (पत्र) मिथक एवं कल्पना से प्रेरित है; वस्तुगतता इसका महत्वपूर्ण बिन्दु नहीं है। वह दृढ़ निर्णय लेता है। प्रथम अपने को कपाल, नाक व भुजा की अस्थि के टूटने के वर्णन तक सीमित रखता है। यह वर्णन उस अज्ञात लेखक के अनुभव, जैसा कि उसने व्यवहार में देखा होगा, पर आधारित है। दूसरा घोषित करता है "उदर के भीतर आत्मा कमजोर है"

---

* Jean Hamburger : The art of Resoning in Biology and Medicine; Diogenes, No. 138, Spring 1988, pp. 26-40.

अनुवाद : विवेक शर्मा

अथवा जीवन की श्वांस दायें कान से और मृत्यु की श्वांस बायें कान से घुसती है।"

यूनानी चिकित्साशास्त्र का जन्म इन्हीं दोनों के पथ निर्देशन में हुआ जो पृथक हैं पर मिले हुए हैं; काल्पनिक उड़ान के दर्प और अनुभववाद की विनम्रता के बीच झिझकते हुए। हम कभी कभी पाते हैं कि एक ही लेखक बिना रोक-टोक एक से दूसरे में प्रवेश कर जाता है।

हिप्पोक्रटेस को हम अनुभववादियों में गिन सकते हैं। यह वही था जिसने **'आन एन्शियेन्ट मेडीसन'** शीर्षक वाले हेक्साकॉन्टाबिबलॉस के खण्ड में यह निर्णय दिया कि "चिकित्साशास्त्र में ऐसी संदिग्ध एवं रहस्यमयी वस्तुओं के निराधार अनुमानों के लिये कोई जगह नहीं है।"[1]

दूसरी ओर प्लेटो वस्तु की अपेक्षा कल्पना को अधिक महत्व देता है। 'टीमिअस' या **'ऑन नेचुअर'** में प्लेटो लिखता है कि "बीमारियां कहां से आती हैं ? मैं सोचता हूँ कि प्रत्येक (व्यक्ति) इसका उत्तर जानता है। निश्चय ही देहों की संरचना चार तत्वों (पृथ्वी, अग्नि, जल एवं वायु) से मिलकर हुई है; प्रकृति के विरुद्ध जब वे अधिक मात्रा में होते हैं या जब उनकी कमी होती है अथवा यदि वे अपने सही स्थान से किसी दूसरे स्थान पर चले जाते हैं... यही बात है जब विकार एवं रोग उत्पन्न होते हैं।"

परन्तु हम अरस्तू को कहां रखें ? उस दूरस्थ काल में उस जैसा कोई कठोर प्रेक्षक नहीं था। प्रकृति के विषय में कथन करने से पूर्व वह उसका अवलोकन करता था। उसकी रचना **"हिस्ट्री ऑफ एनिमल्स"**[2] अनेकों जीवित प्राणियों की प्रजातियों के सुव्यवस्थित अवलोकन के आधार पर लिखा गया जीव विज्ञान का एक मानक निबंध है। उसके द्वारा किया गया मानव शरीर की संरचना का विवरण कुछ अशुद्धियों को छोड कर सटीक है। इस पर भी वह व्याख्यात्मक कल्पना की उड़ानों से पूर्णरुपेण निर्दोष नहीं है। वह अपने विचारों के निरंकुश प्रयोगों के राक्षस की पकड़ में रहता है। केवल अपनी कल्पना से उत्पन्न सुन्दर प्रतिमाओं की रचनाओं के लिये वह यथार्थ को नहीं छोड़ सकता। वह लिखता है कि "मानव के पास अगली टांगों व पंजों के स्थान पर भुजाऐं एवं हाथ हैं। वही एक मात्र ऐसा प्राणी है जो स्वयं को सीधा रख सकता है क्योंकि उसका सत्व दिव्य है। तथापि, दिव्य प्राणी का कार्य चिन्तन एवं प्रज्ञा है। परन्तु अगर शरीर का ऊपरी भाग अत्यधिक भारी होता तो इस कार्य को पूरा करना सरल नहीं होता। क्योंकि भार तर्कना एवं सामान्य बुद्धि की सम्पूर्ण ग्रहणशीलता को हर लेता है। जब भारीपन प्रभावी होता है तो शरीर का पृथ्वी की ओर झुक जाना अनिवार्य हो जाता है। परिणाम स्वरुप प्रकृति ने चतुष्पादों को हाथ पांव के स्थान पर (शरीर को) संभालने के लिये शरीर को अगली टांगे दीं। और इस प्रकार जानवर चतुष्पाद बने क्योंकि उनकी आत्मा उनका भार ढोने में सक्षम नहीं थी।

सभी (प्रकार के) वस्तुगत सत्यापन से उदासीन बुद्धि के दर्प एवं दृष्ट तथ्यों के प्रति झुकने की तत्परता अर्थात् उसकी विनम्रता के बीच निरतंर दोलन होता रहता है। हमें यह दोलन आने वाली शताब्दियों में भी मिलेगा। उदाहरण के लिये मैं कठोरता में अग्रणी देकार्त का उल्लेख करना चाहूँगा जिसने सभी प्रचलित प्रत्ययों से मुक्त कोरे पटल की मांग की। उसने उन सभी लोगों के साथ अपनी आवाज बुलन्द की जो सत्रहवी सदी में स्कूलवादी जुऐ को उतार फेकने में संघर्षरत थे। देकार्त, जिसने फिर भी अपनी पुस्तक **'ट्रीट्रिस ऑन मैन'**[3] में अपनी उर्वर कल्पना शक्ति से पूरी तरह उत्पन्न अति काल्पनिक बातों का ढेर लगा दिया। उसमें हम पढ़ते हैं कि "शरीर उस बुत अथवा मिट्टी के बने यंत्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसे ईश्वर ने व्यक्त रुप से गढ़ा है।" पुनः "उदर

में मांस का पाचन किन्हीं प्रकार के द्रवों के प्रभाव से होता है और क्योंकि ये द्रव हृदय से शिराओं द्वारा अत्यन्त तत्परता से लाये जाते हैं, ये पूर्णतः गर्म होने चाहिये और फिर मांस प्राकृतरुप से ऐसा होता है कि वह स्वयं ही विघटित व ज्वलनशील हो जाये जैसा कि सूखने से पहले ही खलिहान में इकट्ठी की गई नई घास।" पुनः "मांस के सबसे हल्के भाग असमान और यहां तक कि अपूर्णरुप से मिले हुए होते हैं; वे एक द्रव बनाते हैं अगर उसका एक भाग रुधिर में नहीं मिल पाये तो वह धुधंला व सफेद रह जाता है।" "हृदय के गोश्त के छिद्रों में प्रकाश रहित एक प्रकार की अग्नि होती है जो इसे इतना गर्म व इतना दाहक बना देती है कि जब रुधिर आता है तो वह अविलम्ब फैल जाता है और बढ़ जाता है। और हृदय में अग्नि की आवश्यकता वीनाकेवा की एक नली में से बूंद बूंद गिरते हुए रुधिर को फैलाना, गर्म व पतला करने के अलावा कुछ और नहीं है।" वह कहता है कि रुधिर के सबसे अधिक सजीव, तेजस्वी व विरल अंश मस्तिष्क में जाते हैं जो एक प्रकार की अति सूक्ष्म वायु या फिर एक अति सजीव व शुद्ध ज्योति जिसे हम पाशवस्राव कहते हैं का परिचय कराते हैं। नसें (स्नायु) जिनकी बाहरी परत एक 'वृहद् नलिका में कुछ छोटी नलिकाऐं' के समान है, इन नलिकाओं में एक मज्जा है जो कि पूर्णतया मस्तिष्क के तत्व से ही बनता है; "यह मज्जा अवयवों की गति में बिलकुल भी सहायता नहीं करती" परन्तु "वह छोटी नलिकाओं को जो कि उसे पकड़े रखती हैं उस मात्रा तक नहीं भरती जितना कि पाशव स्त्रावों को मस्तिष्क से मांसपेशियों तक सरलता से बहने के लिये पर्याप्त हो।" प्रविष्ट होने अथवा छोड़ने वाली पाशव स्त्राव की मात्रा पर यह निर्भर है... वे मांसपेशियों के ढांचे को फैलाती व संकुचित करती हैं... जैसे ही वे प्रस्थान करती हैं मासंपेशियां संकुचित और लम्बी हो जाती है।" यदि स्नायु की मज्जा को बनाने वाले छोटे जालों को शक्ति से इतना खींचा जाय कि वे टूट जायें तो उनसे मस्तिष्क में होने वाली गति जो कि आत्मा में पीड़ा की अनुभूति करायेगी क्योंकि उसके लिये यह महत्वपूर्ण है कि उसका घर सुरक्षित रहे। और यदि उनको तोड़े बिना लगभग पूर्व के समान वल द्वारा खींचा जाय (तो यह गति) आत्मा को निश्चित प्रकार की शारीरिक विलासिता का अनुभव करायेगी जिसे हम गुदगुदी कहते हैं।" "जब हृदय में जाने वाला रुधिर अधिक स्वच्छ और पतला होता है और सामान्य से अधिक सरलता से मिल जाता है तब उसमें छोटी स्नायु इस ढंग से होती हैं जो कि आनंद का एहसास कराती हैं; और जब रुधिर का ठीक इसके विपरीत स्वरुप होता है तो वह विषाद का अहसास कराता है।" देकार्त अपने प्रबन्धः ऑन द फॉर मेशन ऑव फीटस, में देकार्त चलते-चलते यह व्याख्या देता है कि रुधिर लाल क्यों होता है। देकार्त उस प्रदर्शन का स्मरण कराते हैं जिसमें उन्होंने यह सिद्ध किया था कि प्रकाश का अवलोकन उसके अनुसार 'द्वितीय तत्व के क्षुद्र पिण्डों' के परिणाम स्वरुप होता है। परन्तु 'रुधिर के छिद्रों' में से एक निश्चित प्रकार के 'प्रथम तत्व' का पदार्थ 'तिरछा और अति तीव्र' गति से निकलता है जो कि विचाराधीन क्षुद्र पिण्डों का इतनी गति से घूर्णन करती है कि हम लाल रंग देखते हैं (यदि वे कम गति से घूमें तब हम नीला रंग देखेंगे)। यह सत्य है कि लाल वर्णिक जो कि वस्तुतः रुधिर को रंग देता है की खोज इस विख्यात दार्शनिक के मरणोपरान्त दो सदियों तक नहीं हुई।

इस प्रकार से नई वैज्ञानिक प्रवृत्ति की प्रारम्भावस्था को अपनी कैंचुली छोड़ने में बड़ा कष्ट हुआ। तथ्यों के समक्ष मनस की नम्रता का जन्म अनेकों दुर्घटनाओं के बिना नहीं हो सका। अठारहवीं और यहां तक कि उन्नीसवीं सदी अनुभव की अपेक्षा कल्पनाओं से उत्पन्न सिद्धान्तों की रचना करने वालों को आश्रय देती रही जैसे कि वान हैलमॉन्ट, बुआसिऐ द् सोवाज्ये या बार्थेज के जैव शक्तिवादी

सिद्धान्त-जिनमें इस स्थापना को प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ कि जैव सिद्धान्त पूर्णतया आविष्कृत देकार्त के पाशव स्रावों के भतीजे का भतीजा था जो कि जैविक व्यापारों के लिये वास्तव में उत्तरदायी था। आज भी मुझे इस बात का विश्वास नहीं है कि जिन दो अतिप्रवृत्तियों जिनका मैंने अभी वर्णन किया है वे पूर्णरुप से लुप्त हो गई हैं - काल्पनिक मनुष्यों की प्रवृति जो कि वास्तविक से सामना करने से कदापि चिन्तित नहीं और दूसरे विरोधी छोर पर यथातथ्य पर भयातुर प्रेक्षक जो वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक तथ्य एकत्रित कर लेते हैं, पर किसी भी प्रकार के विश्लेषण की सम्भावना से भयभीत हो जाते हैं।

प्रयोगात्मक पद्धति का युग

और फिंर भी, यह दो छोरों के बीच शनैः शनैः और कठिनाई द्वारा एक नई वैज्ञानिक निर्णय पद्धति ने जन्म लिया, जिसने शीघ्र ही आश्चर्यजनक परिणामों से अपना महत्व सिद्ध कर दिया।

ल जरलान दार्वे (Le Journal d' Harvey)[4] में मैंने यह दर्शनि का प्रयत्न किया था कि यह नई वैज्ञानिक चेतना सत्रहवीं शताब्दी से आई। (इस शताब्दी में) विलियम हार्वे जिसने रक्त संचरण और हृदय के सही व्यापार का पता लगाया। उसी के समान और भी अनेक व्यक्ति हुए। परन्तु हमारे अर्थात् जीव-शास्त्रियों व चिकित्सकों के लिये वह कृति जिसमें सर्वप्रथम असंदिग्ध रुप में वैज्ञानिक खोजों के नये नियम दिये। वह (कृति) 1865 के काल की है। वह क्लाद वर्नाड की लिखी हुई है और उसका नाम है **एंत्रोदक्श्यों अ लेत्यूद द ला मेदिसें एक्सपैरीमातेल**(Introductan l' Etude de la midecine experimentale)[5] । (इसमें) विषयी शोधकर्ता और विषय (मानव शरीर) के बीच द्वन्द्व में भुजाओं के धक्कों एवं उनसे रक्षा का उतनी स्पष्टता और अधिकार से बताया गया है जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ। विषय से उत्पन्न हुई समस्या शोधकर्ता की चिन्तन प्रक्रिया को उद्दीपित करती है। उसे एक या अधिक व्याख्यात्मक परिकल्पनाओं को बनाने के लिये प्रेरित करती है। शोधकर्ता ऐसे उस परीक्षण की कल्पना करता है जो कि उसकी परिकल्पना को सही प्रमाणित कर सके अथवा इसके विपरीत तथ्यों से असिद्ध हो जायेगा। प्रयोग क्रमशः विषय को उत्तेजित करता है और प्रतिक्रिया के लिये बाध्य करता है और इस तरह समस्या का एक के स्थान पर दूसरा समाधान दिखाई देगा जो न ही केवल निरीक्षण से होगा जैसा कि अनुभववादी चाहेगा और न ही कल्पनामात्र से जैसा कि विज्ञानवादी कहेगा। वरन् वह दोनों के बीच संगति से उत्पन्न होगा जो कि शोधकर्ता की व्यक्ति निष्ठता और वस्तुनिष्ठ तथ्यों के बीच अन्ततः सामंजस्य के रुप में प्रकट होगा।

सत् के प्रति नई दृष्टियां

फिर भी, एंत्रोदक्शों (Introduction) एक विधि ही नहीं देता वह सार्वजनीन नियतिवाद में निष्ठा की क्रिया भी है। कुछ भी कारण विहीन नहीं होता है और इन कारणों के जानने से हर चीज के बारे में निश्चितता से भविष्यवाणी करना सम्भव है। दार्शनिकों ने हमें यह सिखाया है कि मानव (मन) की किस गहराई से कारणता का भाव एव नियतिवाद के प्रत्यय प्रस्फुटित होते हैं। नियतिवाद ने अतिप्राचीन काल से (इस शब्द के अस्तित्व से भी बहुत पूर्व) वैज्ञानिक उन्नति को उर्वर बनाया जबकि विज्ञान ने अपनी सफलताओं द्वारा यह सुझाव देकर कि नियतिवाद के बाहर मुक्ति नहीं है, इस उपकार का बदला चुकाया। और यह स्पष्टरुप से सत्य है कि प्रथमतः यह माने बिना कि कारणों को कार्यों से जोड़ने वाले प्राकृतिक नियमों की सत्ता है, उन पर तर्क वितर्क करना सम्भव नहीं है। किसी भी स्थिति में नियतिवाद के आधारवाक्य के बिना जीवशास्त्र और चिकित्सा (के क्षेत्र) को हार्वे

से क्लॉद बर्नाड और उनसे परे उस अविश्वसीय प्रगति का अनुभव नहीं होता जिसने मानव और जीवन से सम्बन्धित हमारे ज्ञान का काया पलट कर दिया है। वैज्ञानिक ज्ञान से इस विस्फोट को नियतिवादी दृढ़ धारणा की अभिव्यक्ति के रुप में वर्णित किया जा सकता है।

यह धारणा आज भी हमारे लिये ठीक उतनी ही उपयोगी और आवश्यक है। शोधकर्ता का कार्य, निस्संदेह, प्रत्येक व्यक्ति के दैनंदिन कार्य के समान यह अपेक्षा रखता है कि यह दृढ़नियतिवादी निष्ठा को माने। पर इस सदी के प्रारम्भ से ही कुछ असाधारण घटना घटित हुई हैं। नियतिवाद ने अपना प्रभाव बिल्कुल नहीं खोया है पर इसने अपनी सीमाऐं स्पष्ट होने दीं। ये सीमाऐं उस दिन स्पष्ट हो गईं जिस दिन एक नवीन कार्य क्षेत्र - अपरिमित और अप्रत्याशित - का जन्म हुआ : अनिश्चितता का क्षेत्र। यह उसका संकेत था जो मुझे लगा कि क्रान्ति का रुप लेने वाला था। और वैज्ञानिक विचारधारा के इतिहास में यही वह अभिनव क्रान्ति है जिसका मैं अब विश्लेषण करना चाहूँगा।

अनिश्चितता का जन्म

सर्वप्रथम भौतिकशास्त्रियों ने नियतिवाद की सीमाओं से टक्कर ली। अन्तिम सदी के बाद से जब अमेरिका के जोसियाह विलार्ड गिब्बस ने सांख्यकीय यांत्रिकी में नया अध्याय आरम्भ किया और आस्ट्रिया के लुडविग बोल्टजमन ने ऊष्मा गतिकी में सम्भाव्यता प्रवष्टि की, उन्होंने विश्व के कठोर नियतिवादी दृष्टिकोण और एक नये सम्भाव्यतावादी परिपेक्ष्य के मध्य एक प्रारम्भिक आलोचनात्मक दौर स्थापित किया और इस प्रक्रम में एक निश्चित अव्यवहित नियतिवादी पद्धति खो दी। और फिर अणु की महान खोज हुई जहां अनियत सर्वोच्च हो गया। हाल में दिवंगत भौतिकशास्त्र के नोबेल पुरस्कार विजेता अल्फ्रेड कास्लर ने अपनी पुस्तक **सेते रांजे मातिअर**[6] में लिखा है कि ऐकिक तथा भौतिक रुप में अति सूक्ष्म घटना अनियत होती है। सबसे प्रसिद्ध उदाहरण हाईजेनवर्ग की 1927 में प्रकाशित कृति में प्रकट हुआ जिसमें उसने यह दर्शाया कि एक परमाण्विक कण की स्थिति व गति को एक ही समय में अनिश्चय की सीमा से परे सुनिश्चित रुप में जानना असम्भव है। और इस असम्भावना को वस्तुओं के वास्तविक स्वभाव से जोड़ा गया और जो किसी भी प्रकार प्रयोगकर्ता की तकनीकी अपूर्णता का परिणाम नहीं थी।

ला रेजो इला पाशियो[7] शीर्षक वाली रचना में मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि उसी प्रकार की अनियतता ने अब जीवशास्त्र व चिकित्सा के क्षेत्र में हमला कर दिया है। विशेषरुप में मेरा प्रमाण इन दो घटनाओं के विश्लेषण पर आधारित था जिनसे मैं परिचित था - एलर्जिक दुर्घटना और प्रतिरोपित किडनी का अस्वीकार होना। प्रमाण के तकनीकी विस्तार में न जाकर यहां यह कहना पर्याप्त होगा कि किन्हीं निश्चित स्थितियों में इन घटनाओं के विषय में पहले से सम्बन्धित निश्चयात्मक रुप में नहीं अपितु सम्भाव्य रुप में ही कुछ कहा जा सकता है। और, चिकित्सा परक अनिश्चय निश्चितरुप से एक अति व्यापक सामान्य रुप में प्रयुक्त हो सकता है। आण्विक जीवशास्त्र के क्षेत्र में भारी उन्नति होने पर भी निदान सम्बन्धी घटनाओं की पूर्ण भविष्यवचनीयता की आशा बढ़ने से अधिक घटती है। एक अत्यधिक लघु मान से स्थूलमान की क्रिया सर्वदा एक निश्चित मात्रा की अनियतता लाती है। मानवशरीर में विविध प्रकार के अरबों परमाणु हैं जिनके कारण समस्त शरीर के सम्पूर्ण मान को ध्यान में रखते हुए जो कुछ हम परमाणु के स्तर पर जानते हैं वह ज्ञान एवं परिगणना का एक ऐसा पूर्व आदर्श होगा जिसे न तो कोई शोध और न ही कोई कम्पूटर कभी भी पूरा कर सकेगा।

चलते चलते मैं यह टिप्पणी कर सकता हूँ कि जीवशास्त्र और चिकित्साशास्त्र के क्षेत्रों में सांख्यकीय पद्धतियों के व्यापक प्रयोग के लिये साधुवाद। यह अनिश्चितता किसी भी प्रकार विकृत तथ्यों पर वैज्ञानिक उपागम (के प्रयोग) को रोकती नहीं। क्लॉद बर्नाड ने लिखा "चिकित्सा शास्त्र व शरीर-विज्ञान में माध्यों या सांख्यकी (विधियों) का प्रयोग अनिवार्य रुप से त्रुटि की ओर ले जाता है... मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं यह समझने में असमर्थ हूँ कि सांख्यकी के आधार पर प्राप्त परिणामों को सिद्धान्त क्यों कहते हैं; मेरे विचार से वैज्ञानिक सिद्धान्त निश्चितता और पूर्ण नियतिवाद पर ही आधारित हो सकते हैं, सम्भाव्यता पर नहीं .. सांख्यकी ने कभी वैज्ञानिक सत्य उत्पन्न नहीं किया है। ऐसा निर्णय देने पर 100 वर्षों के पश्चात् उसे खेद होता। सांख्यकीय विधि बड़ी सफलता के साथ जैविक शोधकर्यों में प्रवेश कर चुकी है और इसी के कारण हाल के वर्षों में आश्चर्यजनक प्रगति हुई।

यह विकास मानव चिन्तन के इतिहास से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध है क्योंकि सांख्यकी गणितीय तकनीकों का समूह मात्र ही नहीं है, "वरन् वह चिन्तन की एक पद्धति है जोकि विशेषरुप से जीव-विज्ञानों में प्राप्त अतिविशिष्ट प्रकार के प्रदत्तों की व्याख्या को सम्भव बनाती है।"[8]

एक उदाहरण यह स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त होगा कि किस प्रकार सांख्यकी ने चिकित्सा-शास्त्र और जीव विज्ञान के क्षेत्रों से सम्बन्धित ज्ञान के विकास में सहायता की है। व्याख्या हेतु प्रत्यारोपण की असफलताओं के अध्ययन पर आधारित मॉडल को लें। बहुत सारे प्राथमिक कारक संयुक्त रुप से इस असफलता अथवा अस्वीकार को स्पष्ट करते हैं और उनकी संख्या ही अन्तिम परिणाम में अनिश्चय के घटक को ला देती है। (हम बराबर उसे अनिश्चितता कह रहे हैं जिसकी निश्चयता से भविष्यवाणी करना असम्भव है क्योंकि ऐसा करना उचित प्रतित होता है।) इन कारकों में क्रमशः (किडनी) दाता और (किडनी) प्रापक के रासायनिक व्यक्तित्व का महत्व है। यदि यह व्यक्तित्व समरुप है, जैसा कि एकाण्डी जुड़वों (या जुड़वे व्यक्तियों) का होता है, तब अस्वीकरण नहीं होता। अन्य स्थितियों में श्वेत रक्त कणिकाओं के विश्लेपण करने की एक प्रक्रिया जो कि एक निश्चित वर्ग के रासायनिक अणुओं को प्रदर्शित करती है जिनको HLA (ह्यूमन ल्यूकोसाइड 'ए', इस वर्ग के प्रथम निकाय को निर्दिष्ट करने वाला मानवीय हेतु) आद्यक्षर द्वारा निर्दिष्ट करते हैं, इस व्यक्तित्व को निश्चय ही उपयोगी रुप से समझाती है। समस्या यह जानने की थी कि (किडनी) दाता और (किडनी) प्रापक के HLAs (एच.एल.ए.ओं) के मिलान का प्रत्यारोपण के परिणामों के भविष्य कथन हेतु क्या एक निश्चित मूल्य हो सकता है। (एक निश्चित मूल्य और न कि सम्पूर्ण मूल्य क्योंकि यह निश्चित नहीं है कि कौन से दूसरे कारक परिणाम को प्रभावित करने हेतु हस्तक्षेप कर सकते हैं।) अपने प्रयोग के आरम्भ में हमने HLA के मात्र दो उपवर्गों का निर्धारण किया (या प्रयोग के लिये चुना) और कुल 64 उदाहरणों, जिनमें दाता और प्रापक भाई बहिन थे पर जुडवां नहीं, में ये उपवर्ग .33 उदाहरणों में पूर्णतया समरुप और अन्य 31 उदाहरणों में अंशतः समरुप थे। फिर भी प्रत्यारोपण के चार वर्ष उपरान्त हमने 33 पूर्णतया समरुप उदाहरणों में 96% और अंशतः समरुप उदाहरणों में 68% में सम्पूर्ण सफलता देखी। यह असमानता निश्चय ही संयोग अथवा भाग्य के फलस्वरुप भी हो सकती है। वह व्यक्ति जो द्यूतशाला में गेंद (Roulette) फेंकने का खेल खेलता है वह पूर्णरुप से जानता है कि 64 प्रक्षेपणों की श्रृंखला में भी लाल गेंद काली से अधिक बार ऊपर आ सकती है या इसका उल्टा भी हो सकता है, यद्यपि सिद्धान्ततः दोनों के अवसर समान होते हैं। परन्तु सांख्यकीय गणना

प्रत्यारोपणों की इस श्रृंखला में इस तथ्य की स्थापना को सम्भव बनाती है कि निरीक्षत अन्तर की सम्भवना सौ में से एक से भी कम है या दूसरे शब्दों में, लगभग वही। अतः हम यह मानने के लिये समर्थ हैं कि इन HLA वर्गों में समानता ने इन प्रत्यारोपणों की सफलता में असली भूमिका अदा की या यदि हम चाहें कि इन वर्गो में भेंद प्रत्यारोपणों के अस्वीकार के लिये अंशतः उत्तरदायी हो सकती है।[9] इन HLA अणुओं की खोज व उपयोग का सम्पूर्ण अत्यन्त हितकर इतिहास भी इसी प्रकार सांख्यकीय अध्ययन का परिणाम है। और इस प्रकार के अध्ययन की उपयोगिता जीवशास्त्र और चिकित्साशास्त्र के हर क्षेत्र में प्रदर्शित की जा सकती है।

सिज्युअरा का प्रत्यय

हाल ही के कुछ वर्षों में मैंने अपने शोध का कुछ भाग एक नये ज्ञानमीमांसायी कारक में लगाया है जिसे मैं **सिज्युअरा की अवधारणा** कहूँगा। सिज्युअरा से मेरा अर्थ है सत् के ज्ञान को निश्चित क्षेत्रों में बांटना। सत् के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि हमारे चारों ओर के ब्रह्माण्ड के विषय में एक विलक्षण एवं समरुप कल्पना की अनुमति नहीं देती। बाह्यजगत के हमारे ज्ञान में अपरिहार्य रुप से अन्तराल है। यह निसंदेह, पूर्णतया मौलिक विचार नहीं है और हम कितने ही ऐसे प्राचीन दार्शनिक उद्धरणों का उल्लेख कर सकते हैं जो यह सुझाते हैं। पर समकालीन वैज्ञानिक घटनाओं के परिपेक्ष्य में इस प्रत्यय की शक्ति में उल्लेखनीय बढ़ोतरी हुई है।

पूर्णतः स्पष्टता के लिये मैं आरम्भ में दो नितान्त विलक्षण उदाहरणों का उपयोग करना चाहूँगा। पहले को परमाणु और पर्वत का दृष्टान्त कह सकते हैं। पर्वत परमाणु का बना होता है। पर्वतों के क्षरण, हिमस्खलन और ज्वालामुखीय विस्फोटों से सम्बन्धित अध्ययन में यथेष्ट प्रगति हो चुकी है। और फिर भी अपने अणु के बारे में ज्ञान के आधार पर ज्वालामुखीय विस्फोटों या पर्वतीय क्षरण के विषय में भविष्य कथन करना असम्भव है। और यह सम्भव है कि हम ऐसा कभी भी नहीं कर पायें । ऐसा किसी तकनीकी असंभवता के कारण नहीं अपितु ज्ञान में एक अन्तराल के कारण होता है अथवा **सिज्युअरा** के कारण परमाणुओं को निर्धारित करने वाले नियमों से उन विषयों तक जो पर्वतों के बारे में है, तक सरलतापूर्वक गमन कठिन है। हमारे इस निश्चित होने पर भी कि पर्वत परमाणुओं से ही बने होते हैं पार्वतिकी (orography) को परमाण्विक सिद्धान्त से निगमित नहीं किया जा सकता। सिज्युअरा मापनी के परिवर्तनों तक सीमित नहीं है। जैसे ही हम अपने अध्ययन की प्रणाली में बदलाव करेंगे वह तदनुरुप उसी एक मापनी में भी प्रकट हो सकता है। प्रकृति का दो भिन्न दृष्टियों से किया गया अवलोकन एक ही वस्तु के दो ऐसे बिम्ब प्रस्तुत करता है जो एक दूसरे से स्वतंत्रता की निश्चित मात्रा में अलग अलग होते हैं। वेनिस में सेंट मार्क के महामन्दिर के अग्रभाग पर बारहवीं सदी की एक नक्काशी की गई प्रतिमा है जिसका हरक्लीज एवं मृग नाम से उल्लेख किया जाता है। इस प्रतिमा को दो दृष्टियों से अध्ययन किया जा सकता है। प्रथम दृष्टि के अनुसार यह 164 से.मी. ऊंची और 86 से.मी. चौड़ी एक संगमरमर की पट्टी से निर्मित है, कि यह संगमरमर संघटित कैल्साइट रवों से बना कैल्सियम कार्बन है; कि श्वेत कैल्साइट में रंगीन कैल्साइट की धारियां मिली हुई हैं; कि प्रत्येक कैल्सियम परमाणु एक कार्बन और तीन ऑक्सीजन के परमाणुओं से सम्बद्ध है। यह संरचनात्मक विश्लेषण कितने ही लम्बे समय तक चलता रह सकता है। परन्तु दूसरा विश्लेषण भी है, वह जो कि (प्रतिमा के) दाढ़ीदार चहरे पर दृढ़ एवं लगभग क्रूर अभिव्यक्ति पर विचार करेगा या इस विश्लेषण का विषय वह विचित्र भ्रान्ति हो सकती है जो इस बात से उत्पन्न होती है कि गाथा में तो मादा

खरगोश (cerynite doe) के लिये कहा है जबकि उस अज्ञातमूर्तिकार ने हरक्लीज को एक मृग पर आक्रमण करते हुए दिखाया है अथवा वह मूर्ति के विभिन्न खण्डों के सामंजस्य में एक अद्भुत अकुशलता हो सकती है। एक ओर भौतिक और रासायनिक विश्लेषण व दूसरी ओर कलात्मक विश्लेषण के बीच कोई विरोध नहीं है, केवल सिज्युअरा है। खोजा गया सत् भिन्न है इसलिये अध्ययन प्रणाली भिन्न हैं। वेनिसी संगमरमर की दो पृथक वास्तविकताऐं हैं क्योंकि उसे देखने की दो दृष्टियां हैं।

मैं आशा करता हूँ कि पाठक मुझे इन सरलीकृत उदाहरणों के लिये क्षमा कर देंगे। मैंने उन्हें यह सुझाने के एकमात्र प्रयोजन के लिये चुना था कि हमारी शोध पद्धतियां कई दर्पणों के समान हैं जिनमें से प्रत्येक सत् का कोई बिम्ब प्रस्तुत कर सकता है। यह स्वाभाविक है कि जब दर्पण बदलता है तब ये प्रतिबिम्ब भी बदल जाते हैं। अब हम पुनः अपने विषय, जिसका लक्ष्य यह दिखाना था कि सदृश विभाजन (सिज्युअरा) वैज्ञानिक ज्ञान को बहुत से कक्षों में बाट देते हैं, पर आयें।

उदाहरण के लिये मैं तंत्रिका जीव-वैज्ञानिकों और मनोवैज्ञानिकों के बीच (इस विषय पर) मत भेद को लूंगा। तंत्रिका जीव वैज्ञानिक मानते हैं कि चिन्तन प्रमस्तिष्कीय क्रिया के वश में है और प्रतिवर्ष और भी अधिक परिशुद्धता से रासायनिक मध्यस्थ जो कि हमारे व्यवहार को नियंत्रित करते हैं का विवरण प्रस्तुत करते हैं। मनोवैज्ञानिक इस विचार से विचलित हैं कि हमारा मानसिक जीवन रसायन-शास्त्र का साधारण पहलु है और हमारी व्यवहार करने की स्वतंत्रता मात्र मरीचिका है। प्रथम, सम्पूर्ण मनश्चिकित्सा का समाकलन जीवशास्त्र में मस्तिष्क के अध्ययन में करने का स्वप्न देखते हैं तो मनोवैज्ञानिक अस्वीकार करते हैं। हांलाकि यह विदित है कि सिज्युअरा तंत्रिका विज्ञानी के उपागम (या दृष्टि) को मनोवैज्ञानिक के उपगम (या दृष्टि) से पृथक करता है। ये दो भिन्न विधियां हैं; दो भिन्न प्रतिमाऐं हैं। हमारे परम्परागत सोचने के तरीके को चाहे कितना ही आघात लगे मैं ऐसा मानता हूँ कि स्वयं वैज्ञानिक प्रवृत्ति को स्वयं से समायोजन करना चाहिये। पुनः यहां भी भौतिक-शास्त्रियों ने हमें राह दिखाई है। वे भी अनन्यता की अपनी अभिलाषा के अतिक्रमण का अनुमोदन करने के लिये बाध्य थे। जब अ - न्यूक्लिडीय ज्यॉमिति का जन्म हुआ था तो उसने कुछ नये प्रकार के दिकों के प्रत्ययों को उत्पन्न किया जिसने उदाहरणार्थ आइन्स्टाइन के सापेक्षता के सिद्धान्त को सम्भव बनाया तब यह विश्वास करना कि न्यूनटन के परम्परागत यांत्रिकी के सिद्धान्त का अन्त हो गया है, सम्भव हो सका। परन्तु ऐसा बिल्कुल भी न था। अ-न्यूक्लिडीय ज्यॉमिति, यूक्लिडीय ज्यामिति से अधिक 'सत्य' नहीं है। पहली किन्हीं निश्चित परिस्थितियों में प्रभावकारी है तो दूसरी उनसे भिन्न परिस्थितियों में। जिस तरह कि यह कहना 'प्रकाश तरंग है' इस कथन से कि 'प्रकाश कणों से बना होता है', अधिक सत्य नहीं है। यदि हम प्रकाश के प्रसारण का अध्ययन करें तो वह तरंग है और यदि हम यह देखें कि वह किसी पदार्थ के साथ किस प्रकार क्रिया करता है तब वह कण है। और फिर प्रकाश मात्रा (फोटोन) का प्रत्यय अनिवार्य हो जाता है। और लुई द ब्रोगली का सम्पूर्ण उर्मिल (ondulatory) यांत्रिक जानुस की भांति एक दोहरे सत्य का द्विशीर्षित प्रतिमा बन जाती है। नील्स बोहर के पश्चात् भौतिकशास्त्री तरंग और कण की पूरकता के अभ्यस्त हो गये। क्या वह समय नहीं आ गया जब जीव-शास्त्रियों को भी इसी पूरकता के प्रत्यय का अनुमोदन करना पड़ेगा, यद्यपि वह एकात्मक तर्क को पलट देता है जिसकी कि हमारे भीतर गहरी जड़ें हैं। तंत्रिका जीव-विज्ञानी निस्संदेह सही हैं जब वे इसकी पुष्टि करते हैं कि एण्डोमोरफीन्स, एन्केफ्लाइन्स और अन्य

प्रमस्तिष्कीय मध्यस्थ हमारी मनः स्थिति पर प्रतिबन्ध लगाते हैं और हमारे व्यवहार को प्रभावित करते हैं। मनोवैज्ञानिक जब हमारे चिन्तन की स्वतंत्रता की पुष्टि करते हैं तब वे गलत नहीं है। सिज्युअरा का स्पष्ट विचार जो सत् की हमारी समझ को अलग बताता है मुझे उस धक्के से बचाता है जो मुझे उस समय लग सकता है जब कुछ लोग यह कहते हैं कि मेरे निर्णय स्वतंत्र नहीं है जबकि दूसरे मुझे यह बतायें कि वे पूर्णतया स्वतंत्र हैं। प्रथम प्रकार के लोग यह कह रहे हैं कि मेरा मानसिक जीवन मेरी प्रमस्तिष्कीय क्रियाओं की अभिव्यक्ति है; और वे सही हैं। दूसरे लोग भी यथातथ्य कह रहे हैं कि मेरे असंख्य तंत्रिका-कोशिकाओं से पलायन के द्वारा जैसे कि अपूर्वोक्त कविता कागज पर उतर आती है जो कि उसका माध्यम है; मेरा चिन्तन भी अपनी बड़ी सीमा में अपने बन्धनों से मुक्त हो जाता है। यहां कोई अन्तर्विरोध नहीं है; परन्तु मात्र विश्लेषण में परिवर्तन है; प्रतिबिम्ब में परिवर्तन है। न तो मैं स्वतंत्र हूँ और न ही किसी का दास। यदि मैं तंत्रिका जीव विज्ञान की पद्धतियों का आश्रय लूँ तब मुझे यह तथ्य अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिये कि कुछ भौतिक रासायनिकीय घटनाऐं मेरी स्वतंत्रता को सीमित करती हैं। यदि मैं अपने आपको चिन्तन का विश्लेषण करने की विधियों के अनुसार अपने स्वयं का अवलोकन करुं और तंत्रिका जीव-विज्ञान की पद्धति के अनुसार नहीं, तो मैं मुक्त हूँ, पूर्णतः मुक्त।

अवियोज्य युग्म : प्रेक्षक-प्रेक्षित विषय

वैज्ञानिक चिन्तन को एक और चेतावनी मिली। हमारे चारों ओर के विश्व के अध्ययन ने अभी तक यह माना कि विषय को प्रेक्षक से स्वतंत्र रुप में देखना चाहिये। अध्ययन की सभी विधियां अनिवार्यरुप से विषय के एक समरुप वर्णन की ओर उन्मुख होनी चाहिये (और विषय से मेरा अर्थ प्रत्येक उस वस्तु से है जो हमारी जिज्ञासा के सम्मुख प्रस्तुत होती है; चाहे वह मानव शरीर हो, जीवित या निर्जीव पदार्थ हो, खगोलों का ब्रह्माण्ड हो या एक विशिष्ट प्राकृतिक नियम जिसकी प्रक्रिया हमारे अन्दर कुतूहल उत्पन्न करती है)। हुस्सर्ल की फिनोमैनोलॉजी ने हमारे ज्ञान की अवधारणा के इस महत्वपूर्ण क्षण में विषय की अपरिवर्तनीयता की पुष्टि की। हुस्सर्ल ने इस विषय की सत्ता मात्र के शाश्वत वाद-विवाद में प्रवेश करना स्वीकार नहीं किया। उसने स्वीकार किया कि हम उसे (विषय को) अपने दृष्टिकोण के अनुसार विविध प्रकार से देख सकते हैं। परन्तु उसने सिद्धान्त रुप में कहा कि वस्तु स्वंय परिवर्तित नहीं होती चाहे हमारे उपागम का ढंग कैसा भी हो। तथापि, ठीक ठीक यही वह बात है जो आज विचार के लिये प्रस्तुत है। यह निश्चित नहीं है कि हमारे निरीक्षण से तटस्थ कोई नियत वस्तु है। कम से कम परमाणु कणों के अनुपात के स्तर पर यह सम्भव है कि प्रेक्षक का हस्तक्षेप विषय को संभवतः परिवर्तित कर सकता है। सब कुछ इस प्रकार होता है मानों विषय की कोई स्थायी सत्ता न हो। और उसका स्वरुप अन्वेषण करने की विधि पर निर्भर करता हो। मैं पहले ही प्रकाश के उदाहरण का उल्लेख कर चुका हूँ जो कि प्रयोगात्मक परिस्थितियों के अनुसार तरंग और कण है। जीवशास्त्र मैं एक ऊतक परिच्छेद (tissue section) का प्रकाशीय या इलेक्ट्रॉनी सूक्ष्मदर्शी से परीक्षण कभी भी परीक्षण विधि से स्वतंत्र प्रतिमा (रुप) नहीं प्रदान करता क्योंकि उसके लिये सर्वप्रथम जीवित वस्तु को स्थायीकर द्रव में डालकर नष्ट करना आवश्यक है। इससे प्राप्त सत् का प्रतिबिम्ब प्रयुक्त तकनीक के अनुसार परिवर्तित होता है। यह जीवित संरचना का अनुवाद मात्र ही है न की विश्वासघात जिसे हम जानने का प्रयत्न कर रहे हैं। और मैं ऐसे कई उदाहरण दे सकता हूँ। प्रेक्षक और शोध पद्धतियों से स्वतंत्र वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता प्राप्त करने की अभिलाषा निष्फल है।

वैज्ञानिक शोध जिसका वर्णन करता है वह वास्तविक जगत नहीं है; वह तो सिर्फ प्रेक्षक और सत् के बीच संवाद का फल है; एक ऐसा संवाद जिसमें प्रेक्षक और उसकी पद्धतियां उतनी ही महत्वपूर्ण हैं जितना कि सत् (या यथार्थता)। वैज्ञानिक शोध के क्षेत्र में प्रेक्षक के हस्तक्षेप की उपेक्षा करना चिन्तन प्रक्रिया में गम्भीर त्रुटि है।

शोधकर्ता इस प्रकार सत् की उतनी ही सृष्टि करता है जितना कि वह उसे उद्घाटित करता है; अर्थात् वह उस अन्तिम जाल में फंसने के खतरे में रहता है वह जो कि आज स्पष्ट रुप से प्रकट है : मानव रुपारोपण का दोष।

मानवरुपारोपण का दोष

आन्द्रे ललान्दे [10] की **दि वाकेव्युलेअर दे ल फिलोसोफे** मानवरुपारोपण को एक ऐसे चिन्तन के रुप में परिभाषित करती है जो मानवीय व्यवहार से उधार लिये प्रत्ययों द्वारा उन सभी की व्याख्या करती है जो कि मानवीय नहीं है। वैज्ञानिक शोधकर्ता निस्संदेह आज इस शब्द को व्यापक क्षेत्र देना चाहेगा। मानवीय चिन्तन उसी के लिये वैध है जिसका मनुष्य अपने दैनिक परिमाप में केवल अपनी इन्द्रियों से अवलोकन करता है। परन्तु असीमित रुप से सूक्ष्म का अन्वेषण उसे यह दर्शाता है कि जिस प्रकार से हम विलियर्ड की गेंदों के विषय में चिन्तन करते हैं उसी प्रकार से सूक्ष्मकणों के विषय में चिन्तन करना सम्भव नहीं हैं। हमारे सामान्य प्रतिबिम्बों की तुलना में सूक्ष्म भौतिकशास्त्र का विश्व एक उपयथार्थवादी (Surrealist) विश्व प्रतीत होता है जहां तादात्मय स्थायित्व और कारणता के प्रत्ययों में आश्चर्यजनक रुपान्तरण हो जाता है। इसी प्रकार खगोल भौतिकी विज्ञानी हमारे समक्ष ऐसा विश्व प्रस्तुत करते हैं जो कि सीमित है फिर भी सीमाओं से रहित हैं, एक प्रतिमा जो कि हमारी मापनी पर अस्वीकार्य है, जहां ऐसी कोई सीमा नहीं है जिसके बाहर कुछ न हो। अतः हमारी प्रचलित तर्कना को उन मापनियों पर लगाना जो कि हमारे तात्कालिक परिवेश से अपरिमित रुप से भिन्न है; मानवरुपारोपण करने की मनोवृत्ति है।

मानवरुपारोपण करने की मनोवृत्ति का एक अन्य प्रलोभन मूल आधार वाक्यों को भूल जाता है। शोधकर्ता ने एक वैज्ञानिक नियम की खोज की और उसे प्रेक्षण की निश्चित परिस्थितियों में सावधानी से सत्यापित किया। वह पूर्णतः उसमें व्याप्त हो गया है और अनजाने में वह उपयोग के कार्यक्षेत्र को उन सीमाओं के पार विस्तृत कर देता है जो कि उस स्थिति की सीमा निर्धारित करती है जिसमें नियम को प्रमाणित किया जा चुका है। वह प्रतिरोपण करता है। सार्वधिक प्राचीन उदाहरण यूक्लिडीय ज्यॉमिति का है जिसे बीस सदियों से अधिक प्रत्यक्ष सत्य समझा गया जबकि यूक्लिड ने उसे अप्रमाण्य अभ्युपगमों पर आधारित किया था। जिनमें इन अभ्युपगामों को परिवर्तित करने की साहसिकता थी उन्होंने साथ ही साथ विश्व का चित्र भी बदल दिया। वैज्ञानिक सत्य कभी भी पूर्ण सत्य नहीं होता; वह सापेक्ष होता है, उन सुनिश्चित या उपलक्षित परिस्थितियों का दास होता है जिनमें उसे सिद्ध किया गया था।

अपनी इस सदी के अन्त में शोधकर्ता उन जालों की श्रृंखला से अभिज्ञ हो गया है जिनको मैंने अभी निर्दिष्ट किया है। विज्ञान ने केवल प्रेक्षण और नये साधनों द्वारा प्रगति नहीं की है, उसने चिन्तन की कला में भी उन्नति की।

और मेरे चिन्तन के सार तक पहुँचने के लिये मैं स्वयं से पूछता हूँ कि क्या प्रत्येक मानव जो चिन्तन करता है उसे उन तर्कपूर्ण जालों से अभिज्ञ नहीं होना चाहिये जिनको अभिनव वैज्ञानिक प्रयोगों

ने इतनी मान्यता दी है। क्या मानवरुपारोपण के दायित्व को हमें अपने साधारण तर्क विज्ञान को आकाश और काल के मापदण्डों, जो कि हमारे छोटे से सामान्य विश्व से पूर्णतया भिन्न है पर प्रत्यारोपित करने से सतर्क नहीं कर देना चाहिये। वस्तुतः बहुत से दार्शनिकों - नीचे (नीत्शे) स्टुअर्ट मिल और अन्य की रचनाओं में हम उस आशंका का पूर्वाभाष पाते हैं जो कि हमारे चिन्तन स्वभाव को उन अनुपयुक्त क्षेत्रों में गलत प्रयोग करने में रहता है। अपने स्तर पर बाल्यावस्था से ही हम वस्तुओं का 'क्यों' पूछने से अपने आपको रोक नहीं पाते। यह उचित है क्योंकि हम जिन घटनाओं के साक्षी होते हैं उनके सर्वदा एक या अधिक कारण होते हैं। पर क्या हमें वही प्रश्न अंतरिक्षीय मापदण्डों से करने का अधिकार है ? इस बहाने की आड़ में कि हमारे दैनिक जीवन में हर वस्तु का कारण और अर्थ है, विश्व के कारणों और अभिप्राय के विषय में स्वयं से प्रश्न करना क्या उचित है ? जगत का अपने में महत्व है, यह मानने का अर्थ यह मानना है कि अर्थ की अवधारणा की संरचना मात्र केवल मानवीय कर्म तक सीमित नहीं है और यह कि उसे जगत पर प्रयुक्त किया जा सकता है। और यदि मानव लुप्त हो जायें तब भी उसका अर्थ बना रहेगा।

इसी प्रकार से हम दिक् की अनन्तता से खेलते रहते हैं जैसा कि खगोल भौतिक विज्ञानी हमें करने के लिये निमंत्रित करते हैं और यह कल्पना नहीं कर पाते कि विश्व की सीमाओं के विषय में प्रश्न एक भ्रामक प्रश्न है। स्पष्टतया हम कालिक अनन्तता से खेल रहे हैं और इसकी कल्पना नहीं कर सकते कि विश्व का कोई प्रारम्भ नहीं था यद्यपि विश्व के आरंभ के विषय में प्रश्न उतने ही निरर्थक हैं जितने कि उसकी सीमा के विषय में। यदि आरम्भ शब्द का अर्थ जैसा कि विश्व के लिये प्रयोग होता है, इस सत्य से है कि हमारे मानवीय मापदण्ड पर हर वस्तु का आदि है और ऐसा कुछ भी नहीं है जिसका सर्जन नहीं किया हो, एक अवैध प्रत्यारोपण से अधिक कुछ भी नहीं है। तब क्या मुझे यह कहने की आवश्यकता है कि यह हमारे चिन्तन की आदतों में किस क्रान्ति का प्रतिनिधित्व कर सकती है।

स्पष्ट है कि यह कष्टप्रद विचार हमारे बौद्धिक चिन्तन की सम्भव कमियों का यह बोध सम्भवतः कोई नई बात नहीं है। बहुत से दार्शनिक इन्हें देखते में सफल हुए हैं। पर मानवीय चिन्तन के इतिहास में अभिनव वैज्ञानिक प्रगति के कारण पहलीबार ज्ञान की प्राप्ति के लिये सीमाऐं पूर्ण प्रमाण के साथ प्रकट हुई हैं। विज्ञान एक भव्य साहस कर्म है जो कि अपने आपको यह उद्घोषणा करने का सुख दे सकता है कि वह पिंजरे की चाबी कभी नहीं देगा।

जिन्हें इससे कुण्ठा हो सकती है उन्हें हम यही कह सकते हैं कि जगत का वैज्ञानिक ज्ञान निस्संदेह हमारे चिन्तन के लिये एकमात्र मार्ग नहीं है, दूसरे भी हैं। उदाहरण के लिये सौन्दर्य की अनुभूति, मनोवेग, आस्था, नैतिक दिशाऐं, न्याय की प्यास, आन्तरिक राज्य जिसमें वैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकताऐं और सीमाऐं महत्व की नहीं रहतीं।

संदर्भ-सूची

1. Hippocrates. De l'ancienne medecine, in Oeuvres completes (French translation of Littre with the Greek text on facing page, t. 1, p. 556-637, Paris 1839, Bailliere).

2. Aristotle, Natural History of Aminals.
3. Rene Descartes, L'Homme, followed by De la Formation du Foetus (New edition with a preface by Louis de la Forge, Paris 1729, Compagnie des Libraires).
4. Jean Hamburger, Le Journal d'Harvey Paris, Flammarion, 1983, and Gallimard Coll. Folio, 1986.
5. Claude Bernard, Introduction a l'etude de la medecine experimentale Paris, Delagrave, 1965.
6. Alfred Kastler, Cette entrange matiere Paris Stock, 1976.
7. Jean Hamburger, La Raison et la Passion, reflexion sur les limites de la connaissance, Paris Le Seuil, 1984.
8. Daniel Schwartz, Methodes statisiques a l'usage des medecine et des biologistes, Paris, Flammarion Medecine-Sciences, 1969.
9. Beatrice Descamps, Nicole Hinglais and Jean Crosnier, in Transplantation Proceedings, 1973, vol. 5, p. 231.
10. Andre Lalande, Vocabulaire technique et critique de la philosophie, 12th ed., Paris, Presses Universitaires de France, 1976.